संबोह पंचासिया

मूल ग्रन्थकर्त्ता

कवि गौतम जी

हिन्दी भाषानुवाद

परम पूज्य श्रमणश्रेष्ठ, युवामुनि श्री

सुविधिसागर जी महाराज

सम्पादक

पूज्य आर्यिका श्री सुविधिमती माताजी

तथा

पूज्य आर्यिका श्री सुयोगमती माताजी

परम पूज्य मुनिश्री सुविधिसागर जी महाराज के १५ वें दीक्षादिवस एवं उन्हीं के करकमलों से उसदिन हुई पावन दीक्षाओं के अवसर पर

आवृत्ति २

प्रति :-५०००

पुनर्प्रकाशन हेतु सहयोग राशि :- २० रु.

प्रकाशन ११-५-२००३

समर्पण

परम पूज्य मम आध्यात्मिक जीवन प्रणेता, साधनामार्ग के आदर्श, शिखरसन्त, भारत गौरव, अनेकान्त श्रुत परंपरा के संरक्षक, वादीभगज पंचानन, आचार्य भगवन्त श्री सन्मतिसागर जी महाराज

तथा

मेरे क्षुल्लक–ऐलक दीक्षागुरु, मेरे परम मार्गदर्शक, अद्भुत प्रतिभा के धनी, महाश्रमण, जीवनशिल्प के अतिकुशल शिल्पकार, वात्सल्यनिधि आचार्यकल्प श्री हेमसागर जी महाराज

इन दोनों गुरुओं के
पावन कर कमलों में प्रस्तुत
कृति सादर समर्पित

दो शब्द

स्वाध्याय मेरा अविभाज्य अंग है और श्रद्धा भी। मैं परिणामविशुद्धि व चारित्रशुद्धि के लिये स्वाध्याय में लीन रहने का सतत प्रयत्न करता हूँ।

पचेवर में आने के बाद संस्कृत व्याकरण के ज्ञान को पुष्ट करने की मेरी भावना हुई। सोचा कि व्याकरणसूत्रों को सीखते समय अनुवाद करता जाऊँ ताकि प्रायोगिक ज्ञान की प्राप्ति हो। इसी चिन्तन से मैंने सरल ग्रन्थ की खोज प्रारम्भ की, यहाँ के ग्रन्थ भण्डार में मुझे **श्री सम्बोध पञ्चासिकादि संग्रह** *नामक ग्रन्थ मिला।*

यह पुस्तक डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य के द्वारा अनुवादित है तथा नागौर से **श्री दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशन समिति** के द्वारा प्रकाशित हुई है। श्री दिगम्बर जैन प्राचीन शास्त्र भण्डार में यह प्रति संग्रहीत थी।

ग्रन्थ में प्रारम्भिक दशा के संस्कृत का प्रयोग है तथा मात्र ५१ गाथायें हैं। विषय विवेचन भी सर्वसामान्य है। सम्बोधनरूप हेतु को मन में रखकर ग्रन्थकार ने ग्रन्थ लिखा है। अतः ग्रन्थ बहुत सरल है। यह देखकर अनुवाद करने की भावना बलवती हुई। फलतः १४ जुलाई १९९४ को मैंने टीका का कार्य आरम्भ किया। भगवान महावीर के गर्भकल्याणक के दिन प्रातःकाल आचार्य गुरुदेव का मनःपूर्वक स्मरण कर ग्रन्थानुवाद प्रारम्भ किया।

दिनांक = १४-७-१९९४ - ७ गाथाओं का अनुवाद किया।

दिनांक = १५-७-१९९४ - १० गाथाओं का अनुवाद किया।

दिनांक = १६-७-१९९४ - १० गाथाओं का अनुवाद किया।

दिनांक = १७-७-१९९४ - ५ गाथाओं का अनुवाद किया।

दिनांक = १८-७-१९९४ - ५ गाथाओं का अनुवाद किया।

दिनांक = १९-७-१९९४ - ९ गाथाओं का अनुवाद किया।

दिनांक = २०-७-१९९४ - ५ गाथाओं का अनुवाद किया।

इसतरह मात्र ७ दिनों में टीका पूर्ण हुई।

संस्कृत भाषा का ज्ञान तो मुझे है नहीं, अतः मेरा यह प्रयास मात्र ढीठता है। विद्वज्जनों के लिए मैं उपहास पात्र हूँ,इसमें क्या संशय है ?

न तो शब्दकोष का भण्डार मेरे पास था और न अनुवाद का पूर्ववर्ती अनुभव। अतएव दुस्साहस ही हुआ है, मेरे द्वारा।

अनेक स्थानों पर त्रुटियाँ सम्भव हैं। अर्थ में कमी रहना, अर्थ स्पष्ट न होना, व्याकरण की त्रुटियाँ रहना आदि अनेक कमियाँ इस ग्रन्थ में हुई होगी,अतएव विद्वानों से निवेदन हैं कि वे इसे शुद्ध कर पढ़ें।

संस्कृत का अल्पाध्ययन मुझे कराने वाले परमपूज्य मम क्षुल्लकैलक दीक्षागुरु,विद्यागुरु,आचार्यकल्प १०८ श्री हेमसागर जी महाराज के अनुग्रह को मैं इस समय भुला नहीं पा रहा हूँ। प्रेम से, कठोरता से, सभी तरह से अनुशासन कर उन्होंने भाषा का ज्ञान मुझे कराया था। उन पूज्य गुरुदेव के चरणों में बारंबार नमोऽस्तु।

मेरे माननीय प्रेरणास्तम्भ मुनि दीक्षागुरु आचार्य १०८ श्री सन्मतिसागर जी महाराज को मेरा नमोऽस्तु।

अनुवाद के कागज मेरे से लेकर हठात् उसे ग्रन्थ का आकार देने में कारणभूत आर्यिकाद्वय (आर्यिका सुविधिमती, सुयोगमती) को अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की प्राप्ति का आशीर्वाद। उन्हीं के प्रयास से यह पुस्तक इतनी सुन्दररूप में प्रकाशित हो रही है।

द्रव्यदाता, प्रेरक, अनुमोदक, इनकी बहुत बडी नामावली है। उन सबको मेरा आशीर्वाद।

प्रबुद्ध पाठकवर्ग इससे हितमार्ग को प्राप्त करें, बस यही भावना।

आकिञ्चनश्रमण

मुनि सुविधिसागर

सम्पादकीय

अप्पा सो परमप्पा आत्मा ही परमात्मा है। किन्तु वह निज ऐश्वर्य से विमुख हो जाने के कारण दर-दर का भिखारी बन बैठा है। उसकी शक्ति नष्ट नहीं हुई, अपितु सुप्त हुई है। उन्हीं सोई हुई शक्तियों को अनुप्राणित करने का काम स्वाध्याय के द्वारा किया जाता है। इसीलिये ***स्वाध्यायः परमं तपः*** यह उक्ति लोक में विख्यात हुई है। स्वाध्याय का पंचम विकल्प है धर्मोपदेश।

जिन्होंने वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायरूप चतुर्विध स्वाध्याय की आराधना की है, जिन्हें स्व-पर समय का ज्ञान है, जिन्हें [illegible] नय-प्रमाण और निक्षेपादिक का गूढ अवबोध प्राप्त है, जो चतुरानुयोग में पारंगत हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का जिन्हें अनुगम है वे ही धर्मोपदेश के अधिकारी हैं। इन गुणों से विशिष्ट गुरु के द्वारा प्रदत्त सम्बोधन ही संसारोच्छेदक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारणभूत ऐसी देशनालब्धि का निमित्त बनता है।

भगवान महावीर के जीव को सिंह की पर्याय में अमितंजय व अमितगुण नामक मुनियों ने धर्मोपदेश सुनाया था।

आचार्य भगवन्त श्री गुणभद्र जी ने उत्तरपुराण के चौहत्तरवें पर्व में लिखा है कि :-

हे भव्य मृगराज! तूने पहले त्रिपृष्ठ के भव में पाँचों इन्द्रियों के श्रेष्ठ विषयों का अनुभव किया है। तूने कोमल शैयातल पर मनोभिलषित स्त्रियों के साथ चिरकाल तक मनचाहा सुख स्वच्छन्दतापूर्वक भोगा है। रसना इन्द्रिय को तृप्त करने वाले, सब रसों से परिपूर्ण तथा अमृत रसायन के साथ स्पर्धा करने वाले दिव्य भोजन का उपभोग तूने किया है। उसी त्रिपृष्ठ के भव में तूने सुगन्धित धूप के अनुलेपनों से, मालाओं से, चूर्णों से तथा अन्य सुवासों से चिरकाल तक अपनी नाक के दोनों पुट संतुष्ट किये हैं। इस भाव से युक्त, विविध कारणों से संगत, स्त्रियों के द्वारा किया हुआ अनेक प्रकार का नृत्य भी देखा है। इसीप्रकार जिसके शुद्ध तथा देशज भेद हैं और जो चेतन, अचेतन

एवं दोनों से उत्पन्न होते हैं ऐसे षडज् आदि सात स्वर तूने अपने कानों में भरे हैं। तीन खण्ड से सुशोभित क्षेत्र में जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब मेरा ही है इस अभिमान से उत्पन्न हुए मानसिक सुख का भी तूने चिरकाल तक अनुभव किया है। इसप्रकार विषय सम्बन्धी सुख भोगकर भी तू संतुष्ट नहीं हो सका और सम्यग्दर्शन तथा पाँच व्रतों से रहित होने के कारण सप्तम नरक में प्रविष्ट हुआ। वहां खौलते हुए जल से भरी वैतरणी नामक भयकर नदी में तुझे पापी नारकियों ने घुसाया और तुझे जबरदस्ती स्नान करना पडा। कभी उन नारकियों ने तुझे जिसपर जलती हुई ज्वालाओं से भयंकर उछल-उछलकर बडी-बड़ी गोल चट्टानें पड़ रही थीं ऐसे पर्वत पर दौडाया और तेरा समस्त शरीर टाँकी से छिन्न-भिन्न हो गया। कभी झाड की बालू गर्मी से तेरे आठों अंग जल जाते थे और कभी जलती हुई चिता में गिरा देने से तेरा समस्त शरीर जलकर राख हो जाता था। अत्यन्त प्रचण्ड और तपाये हुए लोहे के घनों की चोट से कभी तेरा चूर्ण किया जाता था तो कभी तलवार जैसे पत्तों से आच्छादित वन में बार - बार घुमाया जाता था। अनेक प्रकार के पक्षी, वनपशु और काल के समान कुत्तों के द्वारा तू दुःखी किया जाता था तथा परस्पर की मारकाट एवं ताड़ना के द्वारा तुझे पिड़ित किया जाता था। दुष्ट आशय वाले नारकी तुझे बड़ी निर्दयता के साथ अनेक प्रकार के बन्धनों से बान्धते थे और कान,होठ तथा नाक आदि काटकर तुझे दुःखी करते थे। पापी नारकी तुझे कभी - कभी अनेक प्रकार के तीक्ष्ण शूलों पर चढ़ा देते थे। इसतरह तूने परवश होकर वहाँ चिरकाल तक बहुत दुःख भोगे। वहाँ तूने प्रलाप, आक्रन्दन तथा रोना आदि के शब्दों से व्यर्थ ही दिशाओं को व्याप्त कर बडी दीनता से शरण की प्रार्थना की परन्तु तुझे कहीं भी शरण नहीं मिली, जिससे तू अत्यन्त दुःखी हुआ। अपनी आयु समाप्त होने पर तू वहाँ से निकलकर सिंह हुआ और वहाँ भी भूख, प्यास, वायु, गर्मी, वर्षा आदि की बाधा से अत्यन्त दुःखी हुआ। वहाँ तू प्राणीहिंसा करके मांस का आहार करता था इसलिए क्रूरता के कारण पाप का संचय कर पहले नरक गया। वहाँ से निकलकर फिर तू सिंह हुआ और इस तरह क्रूरता कर महान पाप का अर्जन करता हुआ दुःख के लिए एक उद्यम कर रहा है। अरे पापी ! तेरा अज्ञान बहुत बढ़ा हुआ है, उसी के प्रभाव से तू तत्त्व को नहीं जानता है। इसप्रकार मुनिराज के वचन सुनकर उस सिंह को शीघ्र ही जातिस्मरण हो गया। संसार के भयंकर दुःखों से उत्पन्न हुए भय से

उसका समस्त शरीर कांपने लगा और आँखों से आँसू गिरने लगे।

मुनिराज ने कहा कि हे बुद्धिमान ! अब तू आज से लेकर संसाररूपी अटवी में गिराने वाले मिथ्यामार्ग से विरत होकर और आत्मा का हित करने वाले मार्ग में रमण कर उसी में लीन रह।

जब सिंह की आँखों से पश्चाताप के कारण अश्रुपात होने लगा तो मुनिराज ने कहा :-

अद्यप्रभृति संसार घोरारण्य प्रपातनात् ।
धीमन्विरम दुर्मार्गादरमात्म हिते मते ॥
क्षेमश्रेयेदाप्तुमिच्छास्ति कामं लोकाग्रधामनि ।
आप्तागमपदार्थेषु श्रद्धां धत्स्वेति तद्वचः ॥

(उत्तरपुराण-७४/२०५-२०६)

अर्थ :- हे धीमान् ! आज से अब तू संसाराटवी में गिराने वाले दुर्मार्ग से विरत हो और आत्मा का हित करने वाले मार्ग में रमण कर।

हे भव्य ! यदि तेरी आत्मकल्याण की इच्छा है और तू लोकाग्र पर स्थिर रहना चाहता है तो आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा कर।

इस उद्बोधन के कारण ही उस शेर ने सम्यक्त्व तथा अणुव्रत ग्रहण कर महावीर बनने का मार्ग प्रशस्त किया।

पार्श्वनाथपुराण में भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का वर्णन करते समय भूधरदास जी ने लिखा है कि :-

इसी समय वन में रहने वाला वज्रघोष नाम का हाथी यमराज के समान गुस्सा करके चिंघाड़ता हुआ आया।

सारे संघ में खलबली मच गई, लोग इधर-उधर भागने लगे, जिससे बड़ा शोर होने लगा। जो भी प्राणी हाथी के सामने आया, वही मृत्यु को प्राप्त हुआ। उस हाथी ने रास्ते में खड़े प्यासे घोड़ों और थके हुए बैलों को मार डाला तथा भूखे भयभीत होकर भागने वाले सभी प्राणी मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार से वह हाथी सर्वनाश करता हुआ तथा चिंघाड़ता हुआ मुनि के सामने जा पहुँचा। वह बड़ा ही भयंकर था और क्रोधरूपी विष से भरा हुआ था। वहाँ

पहुँच कर वह मुनि को मारने का प्रयत्न करने लगा। मुनिराज सुदर्शनमेरु के समान निश्चल खड़े थे और उनके हृदयस्थान पर श्रीवत्स का चिह्न बना हुआ था। उस सुन्दर चिह्न को देखते ही हाथी को जातिस्मरण हो गया। अर्थात् पूर्व भव की सारी बातें उसे ठीक-ठीक याद आने लगी। तत्काल ही वह गजराज पूर्ण शान्त हो गया और उसने मुनिराज के श्रीचरणों में अपना सिर रख दिया। तब मुनिराज अति मधुर शब्दों में उससे कहने लगे कि हे गजराज! तूने यह क्या किया ? हिंसा के काम भारी पाप के कारण हैं, हिंसा दुर्गतियों के दुःख देती है। हिंसा के कारण संसार में घूमना पड़ता है। यह अपने को और दूसरों को , दोनों को ही दुःख देने वाली है। तूने आकर इन सब जीवों को मार डाला। हे गजराज ! तुझे पाप से जरा भी डर न लगा। देख ! जरा विचार तो कर कि कौन से पाप के फलस्वरूप तूने ब्राह्मण से हाथी का शरीर पाया ? तू पूर्व जन्म में मेरा मरुभूति नाम का मंत्री था और मैं अरविंद नामक राजा था। तू क्यों नहीं पहिचानता है ? धर्म से विमुख होकर आर्तध्यान से मरने के कारण ही तूने यह दुःखपूर्ण पशुपर्याय पाई है। हे गजराज ! अब इस आर्तध्यान को छोड़कर अपने मन में धर्मभावना को धारण करो। जबतक तेरे प्राण इस शरीर में हैं तबतक सम्यग्दर्शनपूर्वक अणुव्रतों का पालन करो। मुनिराज का ऐसा उपदेश सुनने से हाथी का हृदय कोमल हो गया और वह अपने किये हुए पापों की निंदा करने लगा।

फिर उस हाथी ने हृदय में धर्मग्रहण की इच्छा से मुनिराज के चरणों में अपना सिर रख दिया। मुनिराज भी शान्तचित्त होकर उसे सत्यार्थ धर्म का स्वरूप कहने लगे।

फिर अरविन्द मुनिराज ने उसे सम्यक्त्व व व्रतों के स्वरूप से सम्बन्धित उपदेश दिया। तब हाथी ने व्रतों को ग्रहण किया।

इसप्रकार अनेकानेक कथानक प्रथमानुयोग शास्त्र में पाये जाते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि सम्बोधन ने भव्यों का मोक्षमार्ग प्रशस्त किया।

इस ग्रन्थ का नाम ही **संबोह पंचासिया** है। यह ग्रन्थ संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने वाले संबोधक वचनों से भरा हुआ है।

ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थकाल

इस ग्रन्थकार ने अपनी निर्लोभ प्रवृत्ति के कारण अपना नाम इस

ग्रन्थ में कहीं नहीं दिया है। टीकाकार ने अन्तिम छन्द में ***कवीश्वर गौतम स्वामी कथयति*** ऐसा वचन कहकर ग्रन्थकार का नाम द्योतित किया है। कवि गौतम का कौन-सा काल है ? यह ज्ञात नहीं होता, इनका विवरण हमनें जिनेन्द्र सिद्धान्त कोष, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अथवा भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग १ से ४) में पाने का प्रयत्न किया किन्तु असमर्थ रहे।

ग्रन्थकाल भी अधूरा है –

सावणमासम्मिकया गाथाबंधेण विरइयं सुणहं।
कहियं समुच्चयत्थं पयडिज्जं तं च सुहणोहं ॥

टीका :– कवीश्वर गौतम स्वामी कथयति – मया इयं सम्बोध पञ्चासिका गाथाबन्धेन भव्यजीवानां प्रतिबोधनार्थं श्रावण सुदी द्वितीया दिने कृता। समुच्चयत्थं कोऽर्थः ? बहवो अर्था भवन्ति परन्तु मया संक्षेपार्थे कथिता। च पुनः स्वात्मोत्पन्न सुखबोध प्राप्त्यर्थं मया कृतम्।

अर्थात् :– श्रावण सुदी द्वितीया को ग्रन्थ पूर्ण हुआ किन्तु संवत् आदि का वर्णन ग्रन्थ में न होने से ग्रन्थ कब लिखा गया कहना असंभव है।

इसीतरह टीकाकार कौन हैं ? टीका कब लिखी गई ? टीका लिखने का स्थल कौन-सा है ? यह सब बातें अनिर्णित हैं। फिर भी टीका सरल,सुबोध व विषय का स्पष्टीकरण करने वाली है, यह मात्र निश्चित्।

वर्ण्य विषय

ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के माध्यम से पंच परमेष्ठी को नमस्कार करते हुए सबसे पहले एक गाथासूत्र कहा।

अपनी अल्पज्ञता को प्रकट करते हुए द्वितीय गाथासूत्र का अवतार हुआ।

गाथा ३ से ४६ तक की गाथाओं के माध्यम से ग्रन्थकार ने शिष्य को सम्बोधित किया है।

गाथा ४७,४८ में ग्रन्थकार ने जिनेन्द्रप्रभु से याचना की है कि भव - -भव में आप मेरे स्वामी हो, संयमी गुरु की प्राप्ति मुझे हो, साधर्मी जनों का प्रेम मुझे मिले, मेरा समाधिमरण हो तथा चारों गतियों का दुःख दूर हो।

गाथा ४९ में ग्रन्थकार लिखते हैं कि वे ही मनुष्य धन्य हैं, धनवान हैं तथा जीवित हैं जिनका सम्यक्त्व दृढ़ हैं तथा जिनशासन में जिनकी निरन्तर भक्ति है।

गाथा ५० में ग्रन्थ का पठन व श्रवण का फल प्रकट किया है।

गाथा ५१ में ग्रन्थ का समारोप करते हुए लघुता प्रदर्शन व समय का वर्णन किया है।

इस तरह ५१ गाथाओं में इस ग्रन्थ का विषय फैला हुआ है।

ग्रन्थ की दृष्टान्तशैली

इस छोटे से ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने दृष्टान्तशैली का बहुत अधिक प्रयोग किया है।

यथा :-

दीवम्हि करे गहिए पडिहसि अवडम्हि णत्थि संदेहो।

मणुयत्तणं च पावि वि जइ धम्मे ण आयरं कुणह ॥ ७ ॥

इस गाथा के अनुसार नर जन्म पाकर भी जो धर्म में आदर नहीं करता उसकी तुलना हाथ में दीपक लेकर कुएँ में गिरने वाले जैसी है।

जह वयणाणं वि अच्छी आयसि दिणमणिवज्जहा सारं।

तह सयलजंतु मज्झे माणुसजम्मं पुरो सारं ॥ ८ ॥

मुख में नेत्र सारभूत है, आकाश में सूर्य सारभूत है वैसे जीवों में मनुष्य सारभूत है।

मुवय जोव्वण धम्मु करि जरइ ण चिपई जाम।

थेर वहिल्लहु चलइ जिमि पुणउं ण सक्कइ ताम ॥ १४ ॥

बुढ़ापे की तुलना बूढ़े बैल से की है।

गजकण्णचवललच्छी जीवं तह अब्भपटलसारिच्छं।

चिंतेहि मूढ णिच्चं दप्पण छायव्व पीमाणं ॥ १६ ॥

इसमें लक्ष्मी को हाथी के समान, जीवितव्य को मेघपटल के समान तथा प्रियजनों का प्रेम दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान बताया है।

ऐसे और भी दृष्टान्त इस ग्रन्थ में दिये गये हैं।

विषय का पुनरावर्तन

एक ही विषय को ग्रन्थ में कई बार दुहराया गया है। जैसे -

ण वियलेइ जोव्वणं लच्छी (गाथा १२)

अर्थ:- जबतक यौवन लक्ष्मी विगलित (नष्ट) नहीं होती।

जरइ ण धिपई जाम। (गाथा १४)

अर्थ:- जबतक बुढ़ापा नहीं आता।

जोव्वणलच्छी खणेण वियलेइ। (गाथा १५)

अर्थ:- यौवन लक्ष्मी क्षण में नष्ट होगी।

णिच्चं जोव्वण विगलइ।(गाथा १७)

अर्थ:- हमेशा यौवन नष्ट हो रहा है।

इसीतरह गाथा ३ में **इन्द्रसम जन्मप्राप्तम्** इन्द्र के समान जन्म प्राप्त हुआ है। **इन्द्रसम्भव सरूपं नृजन्म (गाथा १८)** इन्द्र के स्वरूप के समान नरजन्म पाया है।

किन्तु यह उपदेश ग्रन्थ है तथा **उपदेशे पुनरुक्ति दोषो नास्ति** इसकारण पुनरुक्ति क्षम्य है।

भाषा शैली

भाषा अति सरल है। जिस शिष्य का जैनागम में प्रारम्भिक प्रवेश है ऐसा व्यक्ति सहज ही इसे समझ सकता है। यहाँतक कि संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी टीका से अर्थ समझ सकता है।

यथा :-

जइ लच्छी होइ थिरं पुण रोगा ण खिज्जई मिच्चू।

तो जिणधम्मं कीरइ अणादरं णेव कायव्वं ।।३०।।

टीका :- हे जीव ! येन धर्मेण कृत्वा लक्ष्मीः स्थिरा भवति,पुनः रोगाः मृत्युश्च क्षयं यान्ति तर्हि कस्माज्जिनधर्मः न क्रियते ? अपितु क्रियत इति मत्वा मिथ्यामतं न कर्त्तव्यम् ।

टीकार्थ :- हे जीव ! जिस धर्म को करने से लक्ष्मी स्थिर होती है, रोग व मृत्यु क्षय को प्राप्त होते हैं, उस जिनधर्म को धारण क्यों नहीं करना चाहिये ? अर्थात् करना चाहिये । ऐसा जानकर मिथ्यामत न कर अर्थात् उसका अनादर मत कर ।

धम्मेण यसः कित्ती धम्मेण य होई तिहुवणे सुक्खं ।

धम्मविहूणो मूढय दुक्खं किं किं ण पाविहसि ।। ३६ ।।

टीकाः- हे शिष्य ! अत्र संसारे जीवस्य धर्मेण कृत्वा निर्मला कीर्तिर्यशश्च भवति । पुनः धर्मेण कृत्वा त्रिभुवनमध्ये महत्सुखं प्राप्यते । पुनः धर्मेण कृत्वा स्वर्ग-मोक्षादिकं सुखं प्राप्यते चतुर्गतिषु ।

टीकार्थः- हे शिष्य । इस संसार में धर्म करने से जीव कीर्ति व यश को प्राप्त होता है। धर्म के कारण त्रिलोक में महासुख मिलता है। धर्म से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है । चारों गतियों में सुख मिलता है ।

धम्मं करेहि पूयहि जिणवर थुइ करेइ जिणचरणे ।

सच्चं धरेहि हियए जं इच्छइ तं समावडए ।। ४५ ।।

टीकाः- हे जीव। यदि त्वं मनोवाञ्छित फलमिच्छसि तर्हि जिनधर्मं निर्मलं कुरु । लोकमूढतां मुक्त्वा मिथ्यात्वं त्यक्त्वा देवाधिदेवं ज्ञात्वा जिनधर्मं कुरु । पुनः जिनार्चनं कुरु । वित्तानुसारः जिनेन्द्रस्य गुणान् ज्ञात्वा जिनार्चनं कुरु ।

पुनः गद्य-पद्यात्मिकां स्तुतिं कुरु । क्व ? जिनेन्द्रचरणे । सत्यवचनं जिनमार्गं स्वहृदये धरेहि धर । पुनः सम्यक्त्वेन सह द्वादशव्रतानि पालय। कस्मात् ? यतः इहामुत्र च भोगाः स्वयमेव विनायासेन त्वं प्राप्नोषि ।

टीकार्थः- हे जीव! यदि तू मनोवांछित फल चाहता है तो निर्मल जिनधर्म धार ले । लोकमूढता को छोड़कर, मिथ्यात्व को त्यागकर, देवाधिदेव को जानकर जिनधर्म कर । जिनार्चना कर । जिनेन्द्र के गुणों को धन के

अनुसार(शक्ति के अनुसार) जिनार्चना कर । इन्द्रियादिक सुखों की वांछा छोड़कर जिनार्चना कर । गद्य-पद्यमय स्तुति कर।

पारिभाषिक शब्दों की भरमार ग्रन्थ में न होकर सरल शैली का प्रयोग ग्रन्थ में हुआ है ।

हिन्दी टीकाकार

परम पूज्य आराध्य गुरुदेव १०८ श्री सुविधिसागर जी महाराज ने टीका के माध्यम से अनेकों भव्यों पर सहजतया अनुग्रह किया है ।

टीका में भावार्थ के द्वारा मुनिश्री ने वस्तु का व्यवस्थित वर्णन किया है । बारह भावना, मोक्षपाहुड, छहढाला, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, द्वात्रिंशतिका, समाधिभक्ति, सुविधि गीतमालिका इनका माध्यम लेकर भावार्थ को प्रमाणिक बनाने का प्रयत्न उनका रहा है ।

अबतक यह ग्रन्थ प्रसिद्ध न हो पाया था, क्योंकि इसकी केवल १००० प्रतियाँ निकली थी, ऐसा प्रतीत होता है । यद्यपि सुविधि ज्ञान चन्द्रिका ग्रन्थ प्रकाशन समिति के द्वारा इसकी प्रथम आवृत्ति के माध्यम से १००० प्रति ही प्रकाशित हुई थीं । फिर भी मुनि श्री के आशीर्वाद से अभी ५००० प्रतियों का प्रकाशन हो रहा है । मुनिश्री की साहित्य साधना व चारित्र आराधना इसीतरह बढ़ती रहें यही कामना ।

ग्रन्थ के अन्त में द्यानतरायकृत हिन्दी अनुवाद पाठकों की सुविधा के लिए प्रकाशित किया गया है । प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष में अनेक लोगों का सहयोग इस कृति के प्रकाशन में हुआ है । उन सबको आशीर्वाद । पाठक लोग इस कृति का लाभ लेकर संसार से वैराग्य फल को प्राप्त करें यही कामना ।

विद्वद्वर्ग से निवेदन है कि वे अपना अमूल्य समय इस कृति के पठन में लगाकर हमारी त्रुटियाँ हमें ज्ञात कराने का कष्ट करें ताकि आगामी संस्करण में संशोधित रूप से प्रकाशित हो ।

आर्यिका द्वय

सुविधिमती माताजी तथा

सुयोगमती माताजी

अनुवादक का परिचय

औरंगाबाद शहर धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से अनेक सन्तों, विचारकों तथा सुधारकों का जन्मक्षेत्र या कार्यक्षेत्र रहा है। इसी शहर में १९-३-१९७१ को रात्रिकालीन अन्धःकार में तमस से द्वंद्व करने वाले जयकुमार नामक पूर्णचन्द्र का जन्म हुआ। श्रीमान् इन्दरचन्द जी पापड़ीवाल और माता कंचलबाई की आँखों का तारा यह सपूत एकदिन विश्ववन्द्य श्रमणेश्वर के पद पर आसीन हो जायेगा - यह शायद किसी ने सोचा तक नहीं होगा।

जयकुमार बचपन से ही विद्याभ्यासंगी, परिश्रमी, पराक्रमी, सुहास्यवदनी, प्रज्ञापुंज, विनयी और दृढ़प्रतिज्ञ थे। किसी भी कार्य को प्रारंभ करके पूर्णत्व तक ले जाना उनके स्वभाव में ही था। दया और सहयोग उनके गुणालंकार थे। बड़ों की विनय करना परन्तु अपनी बात स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना तो उनकी विशेषता थी। भय भी उनके नाम से भय खाता था। विनोदप्रियता और अजातशत्रुता उनको प्राप्त हुआ सृष्टिप्रदत्त उपहार ही था।

जो परिस्थितियों से दो हाथ करना नहीं जानता हो वह कभी महान नहीं बन सकता। संघर्ष ही उत्कर्ष का बीज है। जन्म के उपरान्त तीसरे ही दिन आपकी आँखों में नासुर नामक रोग हुआ। अबतक उसकी छह बार शल्यचिकित्सा हो चुकी है। बचपन से आपकी कमर खराब है, फलतः पाँच वर्षपर्यन्त आप बैठ नहीं पाते थे। यद्यपि अनेकों उपचार किये गये, परन्तु आज भी उपर्युक्त ये दो अंग कमजोर अवस्था में हैं।

जयकुमार ने पाँचवीं कक्षा तक का अध्ययन औरंगाबाद में ही किया। तत्पश्चात् तीन वर्षों तक का अध्ययन उन्होंने बालब्रह्मचर्याश्रम-बाहुबली **(कुम्भोज)** में किया। शिक्षा के अन्तिम दो वर्ष पुनः औरंगाबाद में ही व्यतीत हुये। आपने लौकिकदृष्टि से मात्र दसवीं कक्षा तक ही अध्ययन किया है, परन्तु आपकी अध्ययनशीलता ने सारे संसार के सारे उपमानों को पीछे छोड़ दिया है। आप निजी अध्ययन के साथ-साथ अपनी बहन विजया व भाई भरतकुमार को भी पढ़ाया करते थे। आप घर में अद्वितीय **(प्रथम)** थे तो बुद्धि में भी अद्वितीय थे।

अति-बालपन से ही आपको धार्मिक संस्कारों से विभूषित किया गया था। आपने आयु के दसवें वर्ष में ही परम पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्र जी महाराज से शुद्धजलत्याग, रात्रिभोजनत्याग, कन्दमूलत्याग और पच्चीस वर्ष का होने तक ब्रह्मचारी रहने का नियम लिया। जब आप दूसरी कक्षा में पढते थे, तभी से आपने चाय का त्याग कर दिया था। आपका त्याग इतना सहज था कि दूसरों को कभी कष्ट नहीं हुआ। आप किसी वस्तु का त्याग करते थे तो उसके बदले में अन्य वस्तु की चाहना भी नहीं करते थे।

आप गुरु का अन्वेषण कर रहे थे। महाराष्ट्र प्रान्त के शेलू नामक गाँव में आपने परम पूज्य आचार्यकल्प श्री हेमसागर जी महाराज के दर्शन किये। उनकी चर्या एवं ज्ञान से अभिभूत होकर आपने उनके चरणों में श्रीफल भेंट किया एवं अपने विचारों से उन्हे अवगत कराया। उनकी अनुज्ञा से ही जयकुमार ने दसवीं तक की शिक्षा प्राप्त की। २८-४-८६ को घर का आजीवन त्याग करके चरित्रनायक ने गुरुचरणों की शरण को वरण किया।

जलगाँव जिले के नेरी नामक गाँव में आपने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। रागियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों को त्याग कर आपने श्वेतवस्त्र परिधान किये। वह अक्षयतृतीया का पावन दिवस था। गुरुदेव ने आपको जैनेन्द्रकुमार यह नवीन नाम प्रदान किया। गुरु का अनुगमन करते हुए आप अतिशय क्षेत्र कचनेर जी पहुँचे। आषाढ शुक्ला अष्टमी के दिन आपने चिन्तामणि पार्श्वनाथ प्रभु के समक्ष गुरु के द्वारा सप्तम प्रतिमाव्रत धारण किया। आप गुरुदेव के चरणों में अध्ययनरत हो गये।

१३-३-८७ को आपने क्षुल्लक दीक्षा धारण की। जन्मभूमि से केवल ५५ कि.मी. दूरी पर स्थित शिऊर नामक गाँव में यह समारोह सम्पन्न हुआ। गुरुदेव ने आपका नाम रवीन्द्रसागर रखा। १९८७ का वर्षायोग म्यायडोंगरी (जि. नाशिक) में हुआ। वर्षायोग के तत्काल बाद २३-१०-१९८७ को आपने ऐलक दीक्षा स्वीकार की। गुरुदेव ने आपको रूपेन्द्रसागर इस नाम से अलंकृत किया। आपने गुरु के साथ सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी के दर्शन किये तथा सोनज (मालेगाँव) से आपने अलग विचरण करना प्रारंभ किया।

विहार करते-करते आप अपने दादागुरु परमपूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के चरणों में पहुँचे। अतिशय क्षेत्र डेचा (जि. डूंगरपूर)

में आपने दादागुरु के करकमलों से ११-५-१९८९ को मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनिदीक्षा का प्रथम चातुर्मास गुरुदेव के साथ सम्पन्न करके [illegible] अलग विहार किया। आत्मसाधना आपका ध्येय था तो सारा समाज प्रबोधित हो यह आपकी इच्छा थी। इन दोनों लक्ष्यों को सिद्ध करते हुए आपने अनेक गाँवों और शहरों को अपनी चरणरज से पवित्र किया।

आपकी प्रवचनशैली बे-जोड़ है। आपके प्रवचन में केवल ओज ही नहीं, अपितु साथ में आगम की धाराप्रवाहिकता भी है। विषय की सर्वांगिणता, दृष्टान्त की सहजता और शैली में नयविवक्षा का होना आपके प्रवचनों का वैशिष्ट्य है। प्रवचनशैली की तरह ही आपकी अध्यापनशैली अनुपम है। प्रत्येक चातुर्मास में आप नवयुवकों को धार्मिक शिक्षण कराते हैं। फिजुलखर्चीपना आपको रुचिकर नहीं है तथा समय की पाबन्दी में आप आदर्श उदाहरण हैं।

आप अनेक विशेषताओं से सम्पन्न हैं और अनेक सद्गुणों के समाधार भी। आपकी समस्त विशेषताओं को विलोक कर दूरदृष्टिवान गुरुदेव ने १९९५ में आपको आचार्यपद प्रदान किया। पदों के प्रति निरासक्त रहते हुए आपने गुरुदेव से निवेदन किया कि हे गुरुदेव! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आचार्यपद नहीं अपितु अपने दो पद (चरणयुगल) प्रदान कीजिये ताकि चारित्रपथ पर गमन करते हुए मैं कभी थकावट का अनुभव न करूं। बालयोगी, शब्दशिल्पी जैसे कितने ही पदों को आपने ग्रहण नहीं किया।

आपकी रुचि प्राचीन शास्त्रों की सुरक्षा में है। आप जहाँ भी जाते हैं, वहाँ के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के ग्रन्थागार का अवलोकन अवश्य करते हैं। अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन कराना आपका ध्येय है। अबतक संघ से वैराग्यसार, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है जो कि मात्र पाण्डुलिपि में ही उपलब्ध थे। मिथ्यात्वनिषेध, श्रीपुराण, व्रतफलम्, सामायिक पाठ, निमित्तशास्त्रम् आदि ग्रन्थ भी प्रकाशनाधीन हैं।

परिचय के लेखन तक आप २ मुनि, ७ आर्यिका, एक क्षुल्लक एवं एवं एक क्षुल्लिका दीक्षा दे चुके हैं। अबतक आपके सान्निध्य में १ मुनि व ५ आर्यिकाओं की सल्लेखना हो चुकी है। इतने अपार वैभव के धनी होकर भी आपको अहंकार स्पर्श तक न कर पाया। आपकी चर्या सहज है और आपकी

चर्चा मार्मिक है। छोटे-से-छोटा और बड़े से बड़ा-आपके लिए सब समान है। आपकी स्पष्टवादिता और सरलता ही ऐसा वशीकरण मन्त्र है कि श्रावकवर्ग आपके पास खिंचा चला आता है।

आपके कारण जैनों का धर्मध्वज गर्वयुक्त होकर लहरा रहा है - वह ऐसा ही लहराता रहें, आपकी धर्मसाधना व ज्ञानसाधना दिन दूगुणी और रात चौगुणी बढ़ती रहें, आपका शिष्य-परिवार दिनों-दिन विकसित होता रहें, आपको स्वास्थ्य-ऐश्वर्य की प्राप्ति हों, आपके द्वारा नित-नवीन ग्रन्थों का अनुवाद होकर प्रकाशन होता रहें, आपका नाम साधकशिष्यों के लिए आदर्श बनें, आपका यश दिग्दिगन्त में फैलता रहें तथा आप दीर्घायुषी बनकर निरन्तर आध्यात्मिक प्रगति करते रहें यही मंगल कामना।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठक्रम
१.	आद्यमंगल	१
२.	प्रतिज्ञा	३
३.	मनुष्यजन्म की दुर्लभता	४
४.	मनुष्यत्व की विफलता	६
५.	पुनः मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है	७
६.	धर्म को धारण करने की प्रेरणा	८
७.	धर्म का आचरण न करने वालों की निन्दा	९
८.	मनुष्यजन्म की श्रेष्ठता	१०
९.	धर्म की दुर्लभता	११
१०.	मोक्ष का उपाय	१३
११.	विषय विषधर है	१४
१२.	धर्म का आदर करो	१५
१३.	पुनः धर्म का आदर करने की प्रेरणा	१६
१४.	यौवनावस्था में धर्म करना चाहिये	१७
१५.	जीवन की क्षणभंगुरता	१८
१६.	सम्यक् चिन्तन की प्रेरणा	१९
१७.	संसार की अनित्यता	२०
१८.	सम्यक् विचार की आवश्यकता	२१
१९.	मृत्यु अवश्य होगी	२३
२०.	मृत्यु की अवश्यंभाविता	२४
२१.	मन्त्रतन्त्रादि मृत्यु से नहीं बचा सकते	२६
२२.	नरक में अपार दुःख है	२८
२३.	गर्भवास और बाल्यावस्था के दुःख	२९
२४.	यौवनावस्था के दुःख	३१

२५.	संसार के दुःख	३२
२६.	बुढ़ापे का दुःख	३३
२७.	पाप का फल	३५
२८.	प्रमादी की निन्दा	३७
२९.	परतीर को प्राप्त करने का उपाय	३८
३०.	जैनधर्म की आवश्यकता	३९
३१.	धर्म को धारण करने की प्रेरणा	४०
३२.	आरंभ का त्याग करो	४१
३३.	कर्मों का फल	४२
३४.	धर्म का फल	४३
३५.	अज्ञानी को सम्बोधन	४५
३६.	धर्माधर्म का फल	४६
३७.	धर्म से लौकिक सुख	४७
३८.	पुनः धर्म का लौकिक फल	५०
३९.	धर्म का स्वरूप	५१
४०.	धर्म, गुरु और देव का लक्षण	५३
४१.	संसार में व्यर्थ क्या है ?	५५
४२.	द्रव्य का लाभ क्यों नहीं होता ?	५७
४३.	शुभाशुभ फल	५९
४४.	कृतकर्म का फल अवश्य मिलता है	६०
४५.	जैसी करनी वैसी भरनी	६१
४६.	इच्छित फलप्राप्ति का उपाय	६२
४७.	मेरी भावना	६४
४८.	जिनेन्द्रप्रार्थना	६५
४९.	धन्य कौन ?	६६
५०.	ग्रन्थपठन का फल	६८
५१.	ग्रन्थ का उपसंहार	६९
५२.	हिन्दी पद्यानुवाद	७०
५३.	श्लोकानुक्रमणिका	७५
५४.	हमारे उपलब्ध प्रकाशन	७८

श्री कवीश्वर गौतमस्वामिना विरचिता

संबोह पंचासिया

आद्यमंगल

णमिऊण अरहचरणं वंदे पुण सिद्ध तिहुयणे सारं।
आइरिय उवज्झाया साहू वंदामि तिविहेण ॥१॥

अन्वयार्थ :-

(अरहचरणं) अरिहन्तों के चरणों में **(णमिऊण)** नमस्कार करके **(पुण)** पुनः **(तिहुयणे)** त्रैलोक्य में **(सारं)** श्रेष्ठरूप **(सिद्ध)** सिद्धों को **(वंदे)** नमस्कार करता हूँ (और) **(तिविहेण)** तीन प्रकार के परमेष्ठी **(आइरिय)** आचार्य **(उवज्झाया)** उपाध्याय तथा **(साहू)** साधुओं को **(वंदामि)** मैं नमस्कार करता हूँ।

संस्कृत टीका :-

अर्हतां चरणकमलं नमामि। कथम्भूतानामर्हताम्? षट्चत्वारिंशद्गुणै - र्मण्डितानाम्। पुनः परमसिद्धानां गुणान्नमामि। किंविशिष्टानाम्? अष्टगुण विराजमानानाम्। पुनः किंविशिष्टानाम्? त्रिभुवनेषु त्रैलोक्येषु, सारं सारीभूतानाम्। पुनः निरञ्जन कर्मकलङ्करहितानाम्। पुनः त्रिविध निर्ग्रन्थानां गुरूणां प्रणमामि। कीदृशाः त्रिविधनिर्ग्रन्थाः? षट्त्रिंशद्गुणैर्मण्डिता आचार्याः, पुनः पञ्चविंशति गुणैर्मण्डिता उपाध्यायाः, पुनरष्टाविंशति गुणैर्मण्डिताः साधवः। कस्मै नमामि? मोक्षाय।

टीकार्थ :-

मैं अरिहन्त परमेष्ठी के चरणकमलों में नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं वे अरिहन्त परमेष्ठी? वे छियालीस गुणों से मण्डित हैं। फिर मैं परम सिद्धों के

गुणों को नमस्कार करता हूँ। सिद्धों में क्या विशेषता है ? वे आठ गुणों से सहित हैं। पुनः वे किस विशेषता से युक्त हैं ? तीन भुवन में अर्थात् त्रैलोक्य में सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ हैं एवं वे निरंजन हैं अर्थात् सभी कर्मों के कलंक से रहित हैं। फिर मैं तीनों निर्ग्रन्थ गुरुओं को नमस्कार करता हूँ। वे तीनप्रकार के निर्ग्रन्थ गुरु कैसे हैं ? छत्तीस गुणों से युक्त आचार्य, पच्चीस गुणों से युक्त उपाध्याय तथा अट्ठाईस गुणों से मण्डित साधु परमेष्ठी हैं। नमस्कार क्यों करता हूँ ? मोक्ष के लिये।

भावार्थ :-

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण करना आर्ष की परिपाटी है। नास्तिकता का परिहार, आस्तिकता का उद्योतन, विघ्न का निवारण अथवा पुण्य का प्रकाश करने के लिए मंगलाचरण किया जाता है। यहाँ ग्रंथकार ने पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया है।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का विनाश किया है, उन्हें अरिहन्त कहते हैं। दस जन्म के अतिशय, दस केवलज्ञान के अतिशय, चौदह देवकृत अतिशय, आठ प्रातिहार्य और चार अनन्त चतुष्टय, ये छियालीस मूलगुण अरिहन्त प्रभु के होते हैं। जिन्होंने कर्मकलंक का नाश किया है, जो त्रैलोक्य में श्रेष्ठ हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरु-लघुत्व तथा अव्याबाधत्व इन आठ मूलगुणों से सिद्ध परमेष्ठी मण्डित हैं।

जो पाँच आचारों का पालन करते हैं व कराते हैं वे आचार्य हैं। उनके दस धर्म, बारह तप, छह आवश्यक, पाँच आचार व तीन गुप्ति ऐसे छत्तीस मूलगुण होते हैं। जो स्वयं पढ़ते हैं व शिष्यों को ज्ञानाध्ययन कराते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं। वे ग्यारह अंग व चौदह पूर्व ऐसे पच्चीस गुणों के धारक हैं। जो आत्मा की साधना करते हैं वे साधु हैं। उनके पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक व सात शेष गुण इसप्रकार अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। पाँचों ही परमेष्ठी संसार में मंगल करने वाले हैं तथा परमस्थान में विराजित हैं। अतः उन्हें परमगुरु कहा है।

मोक्ष को प्राप्त करना प्रत्येक भव्यजीव का चरम लक्ष्य है। उसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए ग्रन्थकार ने विनयपूर्वक उपर्युक्त पाँच परमगुरुओं को नमस्कार किया है।

प्रतिज्ञा

जइ अक्खरं ण जाणामि णो जाणामि छंदलक्खणंकव्वं ।
तहवि हु असारमइणा संबोहपंचासिया भणिया ।।२।।

अन्वयार्थ:-

(जइ) यद्यपि मैं **(अक्खरं)** अक्षरों को **(ण जाणामि)** नहीं जानता हूँ। **(छंद)** छन्द **(लक्खणं)** लक्षण **(कव्वं)** काव्य को **(णो जाणामि)** नहीं जानता हूँ। **(तहवि हु)** तथापि **(असारमइणा)** अल्पबुद्धि के द्वारा मैंने **(संबोह पंचासिया)** सम्बोध पंचासिका **(भणिया)** कही है।

संस्कृत टीका :-

कविः कथयति । किम् ? अहमक्षरं न जानामि । च पुनः छन्दो व्याकरणकाव्यतर्कालङ्कारादि न जानामि । तथाप्यहं तुच्छबुद्ध्या कृत्वा सम्बोध पञ्चासिकां रचयामि ।

टीकार्थ:-

कवि कहते हैं। क्या कहते हैं ? यद्यपि मैं अक्षरों को नहीं जानता हूँ और छन्द, व्याकरण, काव्य, तर्क तथा अलंकारों को भी नहीं जानता हूँ तथापि अपनी तुच्छबुद्धि के द्वारा मैंने संबोध पंचासिका की रचना की है।

भावार्थ :-

महापुरुष अपने अहंकार का विसर्जन करते हैं। अतएव वे अपने गुणों को तुच्छ समझते हैं व उत्तम गुणों की प्राप्ति में तत्पर रहते हैं। कवि ने भी अपनी अल्पज्ञता व्यक्त करते हुए लिखा है कि मैं अक्षर, तर्क, छन्द, अलंकार और व्याकरणादि के ज्ञान से हीन हूँ। मात्र अल्पबुद्धि का सहयोग लेकर मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ग्रन्थकर्त्ता ज्ञानहीन हैं अपितु इससे उनकी निरहंकारिता ही स्पष्ट होती है।

इस छन्द के द्वारा ग्रन्थकर्त्ता ने न केवल अपनी अल्पज्ञता ही प्रकट की है अपितु मैं पूर्वाचार्यों के अनुसार इस कृति का प्रणयन कर रहा हूँ, इसमें मेरा अपना मन्तव्य कहीं भी नहीं है यह बात भी स्पष्ट की है।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता

जइ कहव माणुसत्तं लद्धं महारिमुह (?) अकयत्थं।
रयणायरपरमाणं लोडिज्जंतं ण पावहसि ॥३॥

अन्वयार्थ:-

(जइ) यदि **(कहव)** कहना **(माणुसत्तं)** मनुष्य जन्म **(लद्धं)** पाया है **(महारिमुह)** महाशत्रु **(अकयत्थं)** अकृतार्थ मत कर। **(रयणायरपरमाणं)** रत्नाकर **(सागर)** के मध्य में **(लोडिज्जतं)** अवलोकन करने पर **(ण पावहसि)** नहीं पा सकेगा।

(इस गाथा के कुछ शब्द संशयास्पद है। अतः अन्वयार्थ ठीक सा नहीं बन पाया है। – अनुवादक)

संस्कृत टीका :-

हे जीव ! अत्र संसारे त्वया मनुष्यजन्मप्राप्तम्। कीदृशं जन्मप्राप्तम् ? मूढत्वम्, अज्ञानत्वम् , अकृतार्थम् - इन्द्रसम जन्मप्राप्तम्। किमिव ? यथा रत्नाकर - सागरमध्ये महता कष्टेनावलोकिते सति रत्नं प्राप्नोति तथा संसारमध्येऽनन्त-काले भ्रमिते सति नृजन्मप्राप्तम्। परं सुखेन नृजन्म न प्राप्यते, इति मत्वा मिथ्यात्वं मुक्त्वा जिनधर्मं कुरु।

विद्वान् जानाति विद्वान्सं, गुणी शूरस्य शूरताम्।
वन्ध्या नैव विजानाति , गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥१॥

तथा चोक्तम्-

धर्मकल्पद्रुमस्यास्य ,मूलं सम्यक्त्वमुल्वणम्।
ज्ञानं स्कन्धो व्रतान्येव, शाखापत्राण्यनेकशः ॥२॥

येषां न पूजा जिनपुङ्गवस्य , न दानशीलं न तपो जपश्च।
न धर्मसारं गुरुसेवनं च, गेहे रथे ते वृषभाश्चरन्ति ॥३॥

टीकार्थ :-

हे जीव ! इस संसार में तुझे मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। कैसा जन्म प्राप्त हुआ है ? इन्द्र के समान जन्म मिला है। मूढ़ता से तू इसे अकृतार्थ मत कर। कैसे ? जैसे रत्नाकर (सागर) में देखने पर बड़े कष्ट से रत्न की प्राप्ति होती है वैसे ही संसार में अनन्तकाल भ्रमण करने के बाद मनुष्यजन्म प्राप्त होता है। सरलता से मनुष्यजन्म प्राप्त नहीं होता, ऐसा जानकर तथा मिथ्यात्व को छोड़कर तू जैनधर्म को धारण कर।

कहा भी है –

विद्वान् जानाति--

अर्थात् :- विद्वान विद्वान को जानता है, गुणीपुरुष वीर की शूरवीरता को जानता है। वन्ध्या स्त्री को प्रसववेदना की भारी पीड़ा का कभी अनुभव ही नहीं होता।

और भी कहा है –

धर्मकल्पद्रुम---

अर्थात् :- इस धर्मरूपी कल्पवृक्ष की जड़ श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन है। ज्ञान उसका स्कन्ध है व व्रत ही उस वृक्ष की नानाप्रकार की शाखा व पत्ते हैं।

तथा –

येषां न पूजा---

अर्थात् :- जिनमें जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं है, दान नहीं है, शील नहीं है, तप नहीं है, जप नहीं है, सारभूत धर्म नहीं है और गुरुसेवा नहीं है, वे गृह रूपी रथ के बैल बन कर घूमते हैं।

भावार्थ :-

जैसे अत्यन्त पुरुषार्थ करने पर समुद्र से रत्नों की प्राप्ति होती है उसीप्रकार अनेक भवों के संचित पुण्यकर्मोदय के उदय से मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। अतएव हे जीव ! तुम इसे व्यर्थ मत खोओ। धर्म को धारण करके उस जीवन को सफल बनाना चाहिये। अनायास किसी निधि का लाभ होने पर मनुष्य उससे महान लाभ प्राप्त करना चाहता है, वही प्रयत्न उसे मनुष्यभव की प्राप्ति होने पर करना चाहिये।

मनुष्यत्व की विफलता

लहिऊण मणुयजम्मं जो हारय विसयरायपरिसत्तो।
मुइऊण अमियरसं गिण्हहि विसमं विसं घोरं ।।४।।

अन्वयार्थ :-

(मणुयजम्मं) मनुष्य भव को **(लहिऊण)** प्राप्त करके **(जो)** जो कोई **(विसयराय)** विषयराग की **(परिसत्तो)** आसक्ति में **(हारय)** गवाँता है (वह) **(अमियरसं)** अमृतरस को **(मुइऊण)** छोड़कर **(घोरं)** घोर **(विसमं विसं)** विषम विष को **(गिण्हहि)** ग्रहण करता है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! अत्र संसारे यो जीवः नरजीवनं प्राप्य विषयरागादिकं कृत्वा गमयति, स जीवः कीदृशो ज्ञातव्यः ? तेन मनुष्येण पीयूषं मुक्त्वा हालाहलं विषं पीतमिति भावः।

टीकार्थ :-

हे शिष्य। इस संसार में जो जीव मनुष्यजन्म को प्राप्त करके, उसे विषयों की आसक्ति में व्यतीत करता है, वह मनुष्य कैसा है ? मानों वह मनुष्य पीयूष(अमृत) को छोड़कर हलाहल (विष) को पीता है।

भावार्थ :-

मनुष्यजन्म अति पुण्योदय से प्राप्त होता है। किन्तु जो मूर्ख उस जन्म में नर से नारायण बनने का पुरुषार्थ करने की अपेक्षा विषयभोगों में ही अपने जीवन को गवाँता है, वह मूर्ख अमृत को छोड़कर तीव्र गरल(जहर) पी रहा है - ऐसा समझना चाहिये।

मनुष्यपर्याय अमृत की तरह ही अमूल्य और दुष्प्राप्य है। उसे प्राप्त करने के उपरान्त जो उसका समीचीन लाभ नहीं उठाता वह बुद्धिहीन उस लकड़हारे की तरह अज्ञानी है, जिसे राजा के द्वारा उपहार में चन्दन का वन प्राप्त हुआ। उसे चन्दन का मूल्य ज्ञात नहीं था। उसने सारे चन्दन के वृक्ष काटकर कोयले बना लिये और कोयले बेचने का व्यापार प्रारंभ किया।

पुनः मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है

अप्पेसिहसि अयाणय माणुसजम्मं च णिप्फलं मूढ ।
पच्छत्तावे करहसि माणुसजम्मं ण पावहसि ।।५।।

अन्वयार्थ :-
(मूढ) हे मूर्ख ! **(माणुसजम्मं)** मनुष्य जन्म को **(अप्पेसिहसि)** प्राप्त करके **(अयाणय)** अज्ञान से **(णिप्फलं)** निष्फल मत कर । अन्यथा **(पच्छत्तावे)** पश्चाताप **(करहसि)** करेगा **(च)** और (परन्तु) **(माणुसजम्मं)** मनुष्य जन्म को **(ण पावहसि)** नहीं पायेगा ।

संस्कृत टीका :-

रे मूढ जीव ! बहिरात्मन् ! त्वं बहुवारं नृजन्म न प्रप्नोषि, इति मत्वा नृजन्म निष्फलं मा कुरु । अयोग्यकर्म कृत्वा नृजन्म वृथा मा कुरु । यदि जिनधर्मेण विना-जिनमार्गेण विना नृजन्म निष्फलं करोषि, तर्हि इहामुत्र च पश्चातापं करोषि, करिष्यसि । पुनः मनुष्यजन्मं न प्राप्स्यसि ।

टीकार्थ :-
रे मूढ ! रे बहिरात्मन् जीव ! तू अनेक बार मनुष्यजन्म को प्राप्त नहीं कर सकेगा, ऐसा जानकर नरजन्म को निष्फल मत करो । अयोग्य कर्मों के द्वारा इस भव को वृथा मत बनाओ । यदि जैनधर्म के बिना, जैनमार्ग के बिना तुम नरजन्म को नष्ट कर दोगे तब इसलोक और परलोक में पश्चाताप करने पर भी पुनः मनुष्यजन्म को नहीं पा सकोगे ।

भावार्थ :-
मनुष्यजन्म बार-बार नहीं मिलता । संसार में मनुष्यपर्याय की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । अतएव कवि दयार्द्रभाव से आपूरित होकर जीव को सम्बोधित करते हैं कि हे जीव ! तुम इस भव को व्यर्थ में मत गवाँओ । यदि यह अवसर हाथों से निकल गया तो फिर पछताने के बाद भी तुम इस पर्याय को पुनः प्राप्त नहीं कर सकोगे । जैनधर्म की शरण लिये बिना जीवन जीने पर इसलोक और परलोक में पछताना पडेगा ।

धर्म को धारण करने की प्रेरणा

दुक्खेहि मणुयजम्मं संपज्जइ मूढ अत्थ संसारे ।
इउ जाणिऊण गिण्हह किंचिवि थोवं च संबलयं ॥६॥

अन्वयार्थ:-

(मूढ) हे मूर्ख ! **(अत्थ)** इस **(संसारे)** संसार में **(दुक्खेहि)** कष्ट से **(मणुयजम्मं)** मनुष्य भव की **(संपज्जइ)** प्राप्ति होती है **(इउ)** ऐसा **(जाणिऊण)** जानकर **(किंचिवि)** कुछ भी **(संबलयं)** सम्बलरूप **(च)** और **(थोवं)** कुछ **(गिण्हह)** ग्रहण कर ।

संस्कृत टीका :-

रे मूढ जीव ! अत्र संसारे त्वया महता दुःखेन-अतिकष्टेन नृजन्मप्राप्तम् , परन्तु नृजन्म प्राप्य त्वया किंचिद् ग्रहणीयम् । किं ग्रहणीयम् ? धर्मसारं गृहीतव्यम् । अहो भव्य ! यथा कश्चित्पुरुषः पथि मार्गे ग्रामान्तरं गच्छन्सन् संबलेन विना सुखी न भवति ।

टीकार्थ :-

हे मूर्ख जीव ! इस संसार में तूने महान दुःख से अतिकष्ट से मनुष्यभव को प्राप्त किया है परन्तु मनुष्यजन्म को प्राप्त करके तुम्हें कुछ ग्रहण करना चाहिये । क्या ग्रहण करना चाहिये ? सारभूत धर्म को ग्रहण करना चाहिये ।

हे भव्य ! जैसे कोई पुरुष अन्य गाँव को जाते हुये मार्ग में कुछ सम्बल (पाथेय) के बिना सुखी नहीं हो सकता ।

भावार्थ :-

ग्रन्थकार दृष्टान्तशैली का उपयोग करते हुए भव्यजीवों को समझाते हैं कि जैसे कोई पथिक मार्ग में पाथेय(रास्ते के लिए भोजन)ले जाता है तो वह सुखी होता है । वैसे ही जीव यदि इस जीवन में धर्म को धारण करता है तो वह परभव में भी सुखी होता है । अतएव हे जीव ! तुम इस महाकठिन मनुष्यभव को पाकर जैनधर्म को धारण करो । धर्म सुख का नियामक हेतु है । हेतु कभी अपने कार्य का विघातक नहीं होता है । यदि तुम शाश्वत सुख की कामना करते हो तो तुम्हें अवश्य ही धर्माचरण करना चाहिये ।

धर्म का आचरण न करने वालों की निन्दा

दीवम्हि करे गहिए पडिहसि अवडम्हि णत्थि संदेहो।
मणुयत्तणं च पावि वि जइ धम्मे ण आयरं कुणह ॥७॥

अन्वयार्थ:-

(जइ) यदि **(मणुयत्तणं)** मनुष्यतन को **(पावि वि)** पाकर भी (तुम) **(धम्मे)** धर्म का **(आयरं)** आचरण **(ण कुणह)** नहीं करते हो तो **(दीवम्हि)** दीपक को **(करे)** हाथ में **(गहिए)** लेकर **(अवडम्हि)** कुएँ में **(पडिहसि)** गिर रहे हो (इसमें कुछ भी) **(संदेहो)** संशय **(णत्थि)** नहीं है।

संस्कृत टीका :-

अहो शिष्य ! अत्र संसारे स जीवः दीपं स्वकीयकरेण गृहीत्वा कूपे पतति, नास्ति सन्देहः । स कीदृशो जीवः ? येन जीवेन दुर्लभं मनुष्यजन्मं प्राप्यापि जिन धर्मो न कृतः । अरे मोहिजीव ! यदि त्वं जिनधर्मोपर्यादरं न करोषि, तर्हि त्वया दुर्लभं नृजन्म हारितम् । कैः कृत्वा ? विषयासक्तैः । तृष्णाशाभ्यां सकाशात् नृजन्म हारितम् ।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! जो दुर्लभ मनुष्यभव पाकर भी जैनधर्म धारण नहीं करता है वह जीव किसके समान है ? इस संसार में वह जीव दीपक को अपने हाथ में लेकर कुएँ में गिरता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अरे मोही जीव ! यदि तुम जैनधर्म का आदर नहीं करते हो तो तुमने मनुष्यभव यूँ ही नष्ट कर दिया है। किस कारण से ? विषयों की आसक्ति से, आशा और तृष्णा के द्वारा तुम्हारा मनुष्यजन्म हरण किया जायेगा।

भावार्थ:-

जो जीव मनुष्यभव को पाकर भी जैनधर्म को धारण नहीं करता है, वह दीपक को हाथ में लेकर कुएँ में गिरने वाले मनुष्य की तरह मूर्ख है। अतएव हे मोही ! तू विषयों में आसक्त होकर अपने जीवन को न गवाँ। धर्माचरण के द्वारा इस भव को सफल बना। यदि यह भव विनष्ट हो गया तो उसकी पुनः प्राप्ति होना अतिकठिन है।

मनुष्यजन्म की श्रेष्ठता

जह वयणाणं वि अच्छी आयसि दिणमणिवज्जहा सारं।
तह सयलजंतु मज्झे माणुसजम्मं पुरो सारं ॥८॥

अन्वयार्थ:-

(जह) जिसप्रकार **(वयणाणं वि)** मुख में भी **(अच्छी)** अक्ष(आँख) **(जहा)** जैसे **(आयसि)** आकाश में **(दिणमणिवज्)** सूर्य **(सारं)** सारभूत है, शोभित है। **(तह)** उसीप्रकार **(सयलजंतु)** समस्त जीवों **(मज्झे)** में **(माणुसजम्मं)** मनुष्यजन्म **(पुरो)** सबसे **(सारं)** श्रेष्ठ है।

संस्कृत टीका :-

भो शिष्य ! अत्र संसारे यथा चक्षुषा कृत्वाननं मुखं शोभते । पुनः सूर्येण कृत्वाकाशमण्डलं शोभते तथा तेनैव प्रकारेण सकल जन्तूनां मध्ये षट्काय प्राणिनां मध्ये नृजन्म संसार सारीभूतं शोभते। हे जीव ! इन्द्रसमं नृजन्मं विषयमोहान्धवशात् कस्मात् हार्यते ?

टीकार्थ :-

भो शिष्य ! इस संसार में जिसप्रकार चक्षुसहित मुख शोभा देता है और सूर्य से आकाशमण्डल शोभा देता है, उसीप्रकार षट्कायिक जीवों में मनुष्य जन्म सारभूत है। हे जीव ! इन्द्र के समान मनुष्यजन्म को विषयों में मोहान्ध होकर तुम क्यों गवाँते हो ?

भावार्थ :-

मुख हो किन्तु नेत्रहीन, आकाशमण्डल सूर्य से शून्य हो तो शोभा नहीं पाता, क्यों कि मुख में नेत्र व आकाश में सूर्य श्रेष्ठ है। वैसे ही पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक व त्रसकायिक इन षट्कायिक जीवों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्यपर्याय से ही स्वर्ग और मोक्ष के उत्तमोत्तम सुख प्राप्त किये जा सकते हैं।

ग्रन्थकर्ता करुणापूर्वक समझा रहे हैं कि हे जीव ! तू उस सर्वश्रेष्ठ मनुष्यभव को व्यर्थ मत गवाँ।

धर्म की दुर्लभता

जइ लहइ वि मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण।
अरहकुलं विमलं य णो चिंता अरहधम्मम्मि ॥१॥

अन्वयार्थः–

(जइ) यदि **(मणुयत्तं)** मनुष्यभव में **(उत्तमेण)** उत्तम **(गोत्तेण)** गोत्र से **(सहियं)** सहित **(विमलं)** निर्मल **(अरहकुलं य)** उत्तम कुल की **(लहइ वि)** प्राप्ति भी हो तो भी **(अरहधम्मम्मि)** अरिहन्त के धर्म का **(णो चिंता)** चिन्तवन नहीं होता।

संस्कृत टीका :–

भो भव्य ! अत्र संसारेऽमुना जीवेन यद्यनन्तकालपर्यन्तं निगोदादिषु चतुर्गतिषु भ्रमित्वा महता कष्टेन दुर्लभमनर्घ्यं नृजन्मं प्राप्यते, तर्हि उत्तममार्यखण्डं न प्राप्यते। कदाचिदुत्तममार्यखण्डं प्राप्यते तर्ह्युत्तमं गोत्रं न प्राप्यते। यद्युत्तमं गोत्रं प्राप्यते तर्ह्यर्ह योग्यं कुलं न प्राप्यते। पुनः यद्युत्तमं कुलं प्राप्यते तर्हि भावसहितलक्ष्मीः न प्राप्यते। कदाचित् लक्ष्मीभावः प्राप्यते तर्ह्युत्तमं पात्रं न प्राप्यते। पुनः आरोग्यत्व – मिष्टसंयोगश्च न प्राप्यते। तदपि प्राप्यते चेत्तर्हि चिरायुः न प्राप्यते। कदाचिदमी सर्वे महतः पुण्योदयात् प्राप्ताः तर्ह्यर्हतां गुणानां चिन्तनं, व्यवहारनिश्चय जिनधर्मस्य च चिन्तनं न प्राप्यते। किंवत् ? यथाहर्निशं नवयौवनस्त्रीपुत्रोपरि मोही जीवो यतते तद्वदर्हतां गुणानां चिन्तनं न प्राप्नोति।

टीकार्थः–

हे भव्य ! इस संसार में इस जीव को अनन्तकालपर्यन्त निगोदादि चतुर्गति में भ्रमण करते हुए यदि अतिकष्ट से अनर्घ्यभूत (बहुमूल्य) मनुष्य जन्म प्राप्त होता है तब भी उत्तम आर्यखण्ड की प्राप्ति नहीं होती। कदाचित् उत्तम आर्यखण्ड की प्राप्ति हो भी जाये तो उत्तम गोत्र की प्राप्ति नहीं होती। यदि उत्तम गोत्र में भी वह समुत्पन्न हो जाये तो भी उसे अर्ह (योग्य) कुल (जैनकुल) प्राप्त नहीं होता। पुनश्च यदि उत्तम कुल भी प्राप्त हो जाये तो भावसहित लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती। कदाचित् लक्ष्मी की प्राप्ति भी हो

जावे तो उत्तमपात्र नहीं मिलते हैं। आरोग्यत्व व इष्टसंयोगत्व उपलब्ध नहीं होता है। यह प्राप्त हो जाये फिर भी चिरायु नहीं मिलती। कदाचित् उपर्युक्त बातें महत्पुण्योदय से प्राप्त भी हो जायें तो भी अर्हन्तप्रभु के गुणों का चिन्तवन, व्यवहार और निश्चयरूप जिनधर्म का चिन्तवन प्राप्त नहीं होता।

शंका :- किसके समान ?

समाधान :- जैसे यह जीव दिनरात नवयौवनसंपन्न स्त्री व पुत्रादि पर मोही होता हुआ महान उद्यमी होता है, वैसे ही अर्हन्त के गुणों का चिन्तन यह प्राप्त क्यों नहीं करता ? अर्थात् करना चाहिये।

भावार्थ:-

पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने लिखा है कि

काल अनन्त निगोद मंझार।
बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार॥

(छहढाला :- १/४)

इस जीव का अनन्तकाल निगोदपर्याय में ही व्यतीत हो गया। वहाँ से अन्य पंच स्थावरों में उत्पन्न होकर बहुकाल बीत गया। इस जीव ने बडे ही शुभोदय से त्रस पर्याय प्राप्त की किन्तु अज्ञानवश स्वात्मकल्याण से वंचित रहा। चतुर्गति में इस जीव ने अतीव कष्टों को सहन किया।

(चतुर्गति में इस जीव ने जो दुःख पाये उसकी जानकारी हेतु पढ़िये – कैद में फँसी है आत्मा नाम की मुनिश्री द्वारा लिखित लघु कृति – सम्पादक)

भाग्योदय से मनुष्यभव प्राप्त हो जाये, साथ ही प्रबल पुण्योदय के निमित्त से आर्यखण्ड, उत्तमगोत्र, जैनकुल, लक्ष्मीसम्पन्नता, सत्पात्र, आरोग्य, इष्टसंयोगीपना और चिरायु की प्राप्त हो जाये तो भी जिनेन्द्र के गुणों का चिन्तवन प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि मनुष्यभव और आर्यखण्डादि की प्राप्ति होने के उपरान्त भी धर्म करने की भावना का होना अतिशय दुर्लभ है। आत्मकल्याण के इच्छुक जीवों को प्राप्त संयोगों का समुचित लाभ लेना चाहिये।

मोक्ष का उपाय

इय जाणिउ णियचित्ते धम्मं जिणभासियं च कायव्वं।
जह भव दुक्खसमुद्दे सुहेण संतारणं लहइं ॥१०॥

अन्वयार्थ:-

(इय) ऐसा **(जाणिउ)** जानकर **(जिणभासियं च)** जिनेन्द्रप्रणीत **(धम्मं)** धर्म को **(णियचित्ते)** निज चित्त में **(कायव्वं)** धारण करो **(जह)** जिससे **(भव दुक्खसमुद्दे)** भव - भव के दुःख सागर से **(सुहेण)** सुख से **(संतारणं)** तैरकर **(लहइं)** (मोक्ष को) पाता है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! एवममुनाप्रकारेण स्वचित्ते ज्ञात्वा जिनभाषितो दशविधो धर्म रुचया कर्तव्यः। येन जिनधर्मेण कृत्वा भवसंसारदुःखसमुद्रं सुखेन तीर्त्वा मोक्षःसंप्राप्यते।

टीकार्थ:-

हे शिष्य ! अपने मन में इसप्रकार जानकर जिनेन्द्रदेव के द्वारा भाषित दस प्रकार के धर्म में रुचि करना चाहिये ताकि जैनधर्म को धारण करने से संसार के दुःखसागर से पार होकर मोक्ष प्राप्त हो सके।

भावार्थ:-

पूर्व गाथा में कहा गया था कि इस जीव को मनुष्यभव, आर्यखण्ड, उत्तमगोत्र, जैनकुल, लक्ष्मीसम्पन्नता, सत्पात्रलाभ, आरोग्य, इष्टसंयोगीपना और चिरायु आदि निमित्तों की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभता से होती है। ऐसा जानकर जीव को जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुये उत्तम क्षमादि दशविध धर्म को धारण करना चाहिये। क्रोध नहीं करना क्षमाधर्म है। मृदुभाव को धारण करना मार्दवधर्म है। ऋजुभाव को धारण करना आर्जवधर्म है। लोभ का अभाव शौचधर्म है। हित-मित और प्रियवचन को बोलना सत्यधर्म है। इन्द्रियों का निरोध एवं प्राणियों पर दया करना संयमधर्म है। इच्छा का निरोध करना तपधर्म है। चतुर्विध दान देना त्यागधर्म है। सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग आकिंचन्यधर्म है और आत्मस्वभाव में रमण करना ब्रह्मचर्यधर्म है। इसी धर्म के द्वारा जीव भवसमुद्र से पार होता है।

विषय विषधर है

विसयभुयंगम डसियो मिच्छामोहेण मोहियो जीवो।
कम्मविसेण य धारिउ पडिहसि णरये ण संदेहो ॥११॥

अन्वयार्थ:-

(विसय) विषयरूपी **(भुयंगम)** विषधर **(डसियो)** डसने पर **(मिच्छामोहेण)** मिथ्यामोह से **(जीवो)** जीव **(मोहियो)** मोहित होता है। **(कम्मविसेण य)** कर्मरूपी विष को **(धारिउ)** धारण करके वह **(णरये)** नरक में **(पडिहसि)** पडेगा **(ण संदेहो)** इसमें संदेह नहीं है।

संस्कृत टीका :-

रे मोही जीव ! त्वमत्र संसारमध्येऽनन्तानन्तकालपर्यन्ते पञ्चेन्द्रियाणां विषयैरेव भुजङ्गैः दष्टः। पुन आशा-तृष्णा-शङ्काभिः तिसृभिः शाकिनीभिस्त्वं ग्रस्तः। पुनः मिथ्यात्व-मोह-मद-कषायैरेव मद्यपानैरुन्मत्तो जातः। पुनः कर्मभिरेव हालाहलविषैस्त्वं धारितः। इत्यादिभिर्वृत्तान्तैः जीव ! त्वं घोरनरके पतिष्यसि। नास्ति सन्देहः।

टीकार्थ:-

रे मोही जीव ! तुम्हें इस संसार में अनन्तानन्त कालपर्यन्त पंचेन्द्रियों के विषयरूपी भुजंगों ने डसा है। पुनः तुम आशा, तृष्णा और शंकारूपी तीन शाकिनियों से ग्रस्त हुए हो। पुनः तुम मिथ्यात्व, मोह, मद इन कषायों के मद्यपान करने से उन्मत्त हो चुके हो। पुनः कर्मों के महान विष को तुमने धारण किया है। इत्यादि कारणों से हे जीव ! तुम घोर नरक में जाओगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भावार्थ:-

पंचेन्द्रिय के विषय सर्प के समान हैं, जो जीव को भव-भव में दंश (डसते) करते आये हैं। आशा, तृष्णा व शंकारूपी शाकिनियों से यह जीव स्वरूपानभिज्ञ हुआ है। यह मूढात्मा कर्मों का विष पी रहा है। अतएव इसमें कोई संशय ही शेष नहीं रह जाता है कि इनके कारण यह जीव नरक में न जायेगा अर्थात् निश्चित् ही नरक में जायेगा।

धर्म का आदर करो

जाम ण ढूकइ मरणं जाम ण वियलेइ जोव्वणं लच्छी ।
जाम ण घिप्पइ रोई ता धम्मे आयरं कुणहि ॥१२॥

अन्वयार्थ :-

(जाम) जबतक **(मरणं)** मरण **(ण)** नहीं **(ढूकइ)** प्राप्त होता है **(जोव्वणं)** यौवनरूपी **(लच्छी)** लक्ष्मी **(ण वियलेइ)** नष्ट नहीं होती **(रोई)** रोग **(घिप्पइ)** घेर नहीं लेते **(ता)** तबतक **(धम्मे)** धर्म का **(आयरं)** आचरण **(कुणहि)** कर ।

संस्कृत टीका :-

हे जीव ! यावत् भवतः मरणं न ढौकते । पुनः यावद्यौवनं लक्ष्मीः विलयं न याति । पुनः यावत्तीव्ररोगैः न ग्रस्तः, तावत्कालपर्यन्तं जिनधर्मोपरि त्वयादरः कर्तव्यः ।

टीकार्थ :-

हे जीव ! मरण जबतक आपको नहीं देखता है, पुनः यौवनरूपी लक्ष्मी जबतक नष्ट नहीं हो जाती तथा जबतक आप रोगों से ग्रस्त नहीं हो जाते तबतक आपको जैनधर्म का आचरण करना चाहिये ।

भावार्थ :-

आयु का कोई भरोसा नहीं है । वह कभी भी नष्ट हो सकती है । पानी का बुलबुला और मनुष्य की आयु कब नष्ट हो जायेगी ? किसीको भी पता नहीं है । अतएव जबतक जीवन है, मनुष्य को प्रत्येक क्षण का उपयोग निज कल्याण में कर लेना चाहिये ।

यौवन पहाड़ी पर बहने वाला ऐसा झरना है कि उसका पतन अवश्यंभावी है । वह हर क्षण बुढ़ापे का अवलोकन कर रहा है ।

शरीर रोगों का घर है । इस शरीर में कुल मिलाकर पाँच करोड अडसठ लाख निन्यानवें हजार पाँच सौ चौरासी (५६८९९५८४) रोग होते हैं । अतः कभी भी रोगों की उत्पत्ति हो सकती हैं । जबतक अवसर है तबतक धर्माचरण करके स्वकल्याण करना यही भव्यजीवों का कर्त्तव्य है ।

पुनः धर्म का आदर करने की प्रेरणा

जाम ण पडिखलई गई जाम ण ढूकेइ अक्खणं तिमिरं।
जाम ण बुद्धि विणासइ ता धम्मे आयरं कुणहि ॥१३॥

अन्वयार्थ :-

(जाम) जबतक **(गई)** गति **(पडिखलई)** नहीं नष्ट होती **(जाम)** जबतक **(अक्खणं)** आँखों को **(तिमिर)** अन्धकार **(ण ढूकेइ)** नहीं व्याप्त करता **(बुद्धि)** बुद्धि का **(विणासइ)** विनाश **(ण)** नहीं होता तबतक**(धम्मे)** धर्म का **(आयरं)** आचरण **(कुणहि)** कर।

संस्कृत टीका :-

हे जीव! यावत्तव शरीरगतिर्न भग्ना। पुनः यावत्तव नेत्रयोः विषये तिमिराणि न ढौकरेन्। पुनः यावत्तव बुद्धिः विकलतां न याति। तावत्कालपर्यन्तं त्वया जिनधर्मोऽप्यादरः हि निश्चयेन कर्तव्यः!

टीकार्थ :-

हे जीव! जबतक तेरा शरीर नष्ट नहीं होता, पुनः जबतक तेरे नेत्र विषयान्धकार से बन्द नहीं हो जाते, पुनः जबतक तेरी बुद्धि विकलता को प्राप्त नहीं होती, तबतक तेरे द्वारा जैनधर्म का आदर किया जाना चाहिये, यही तेरा निश्चय से कर्तव्य है।

भावार्थ :-

कुछ बहिरात्मा जीवों का यह मत होता है कि जबतक यौवनलक्ष्मी कायम है तबतक भोगादिकों का सौख्यलाभ प्राप्त करना चाहिये। जब वृद्धावस्था आयेगी तब धर्म का अनुष्ठान करना उचित है। ऐसे शरीरवादियों के मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकर्त्ता ने इस गाथा के माध्यम से यौवनावस्था में ही धर्म करने की प्रेरणा दी है।

कवि कहते हैं कि वृद्धावस्था का आगमन इस जीवन में होगा ही ऐसा कोई नियत नहीं है। अतः जबतक शरीर की अवस्थिति है, नेत्र अपना कार्य करने में पूर्ण सक्षम हैं, बुद्धि अविकल है, तबतक इस जीव को धर्माचरण करना चाहिये। यही प्रत्येक जीव का परम कर्त्तव्य है।

यौवनावस्था में धर्म करना चाहिये

मूढय जोव्वण धम्मु करि जरइ ण घिपई जाम।
थेर बहिल्लहु चलइ जिमि पुणउं ण सक्कइ ताम ॥१४॥

अन्वयार्थ :-

(मूढय) हे मूढ़ ! **(जाम)** जबतक **(जरइ)** बुढापा **(घिपई)** घेरता **(ण)** नहीं है तबतक **(जोव्वण)** यौवन में **(धम्मु)** धर्म **(करि)** करो **(थेर)** बूढा **(बहिल्लहु)** बैल **(जिमि)** जैसे **(चलइ ण)** नहीं चल पाता है। **(पुणउं)** फिर उठने में **(ण सक्कइ ताम)** शक्य नहीं हो पाता।

संस्कृत टीका :-

रे मूढजीव ! त्वं यौवनावस्थायां जिनधर्म कुरु। पुनः यावत् त्वं जरया न ग्रस्तः तावज्जिनधर्मं कुरु। वृद्धत्वेऽशक्तत्वेन धर्मकरणायासमर्थो भविष्यसि। क इव ? यथा वृद्धः बलीवर्द चलनादिक्रियायामक्षमो भूत्वा पतति पश्चात् पतित्वानन्तरं पुनरपि उत्थातुं न शक्नोति। तद्वत् ज्ञात्वा, हे भ्रमणशील जीव ! यौवनावस्थायां जिनधर्मं कुरु।

टीकार्थ :-

रे मूर्ख जीव ! तुम यौवनावस्था में जिनधर्म करो। जबतक तुम बुढ़ापे से ग्रस्त नहीं होते तबतक तुम धर्म करो ! बुढापे में अशक्तता से तुम धर्म करने में असमर्थ हो जाओगे।

शंका :- किसके समान ?

समाधान :- जैसे बूढा बैल चलनादि क्रिया में असक्षम होकर गिर जाता है, फिर गिरने पर वह उठ नहीं सकता है, वैसे .....। हे भ्रमणशील जीव ! यौवनावस्था में जिनधर्म करो।

भावार्थ :-

यदि बूढा बैल अशक्तता के कारण जमीन पर गिर जाये तो पुनः वह उठ नहीं सकता वैसे जरावस्था में धर्मकर्म में आदमी असक्षम हो जाता है, अतएव युवावस्था में ही जीव को धर्माचरण करना चाहिये।

जीवन की क्षणभंगुरता

जीवं खणेण मरणं जोव्वणलच्छी खणेण वियलेइ।
खणि संजोउ विओगो संसारे रे सुहं कत्तो ॥१५॥

अन्वयार्थ :–

(खणेण) क्षणभर में **(मरणं)** मरण होता है। **(जोव्वणलच्छी)** यौवनलक्ष्मी **(वियलेइ)** नष्ट होती है। **(खणि)** क्षणभर में **(संजोउ)** संयोग से **(विओगो)** वियोग होता है। **(रे जीवं)** रे जीव! **(संसारे)** संसार में **(सुहं)** सुख **(कत्तो)** कहाँ है ? अर्थात् संसार में सुख नहीं है।

संस्कृत टीका :–

रे विषयलम्पट मूढ जीव ! अत्र संसारे सुखं कथं भवति ? अपि तु न। कुतः ? यतः कारणादत्र संसारेऽस्य जीवस्य क्षणमात्रं विनश्वरं जीवितव्यं स्यात्। पुनः क्षणमात्रेण मरणं भवति। पुनः यौवनलक्ष्मीः क्षणमात्रेण विलयं याति। पुनः यद्वस्तुनः संयोगो भवति तद्वस्तुनः क्षणमात्रेण वियोगो भवति। ततः कारणादत्र संसारे सुखं नास्ति।

टीकार्थ :–

रे विषयलम्पट मूढ जीव! इस संसार में सुख कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता है ? क्योंकि इस संसार में इस जीव का क्षणभर का ही (विनश्वर) जीवन है। फिर क्षणभर में मरण हो जाता है। पुनः यौवनलक्ष्मी भी क्षण में नष्ट होती है। जिस वस्तु का संयोग होता है, उस वस्तु का क्षणभर में ही वियोग होता है। इस कारण से इस संसार में सुख नहीं है।

भावार्थ :–

संसार की समस्त वस्तुयें असार व अस्थायी हैं। अतएव इस संसार में सुख कैसे हो सकता है ? सुख आत्मा का गुण है। अनाकुल आत्मपरिणति को ही सुख कहा जाता है। आत्मतत्त्व के बोध से अपरिचित मूढात्मा बाह्यवस्तुओं में ही सुख की कल्पना करता है। शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए आत्मा को परद्रव्य निरपेक्ष होकर निज अन्तस्तत्त्व में रमण करना चाहिये।

सम्यक् चिन्तन की प्रेरणा

गजकण्णचवललच्छी जीवं तह अब्भपटलसारिच्छं ।
चिंतेहि मूढ णिच्चं दप्पण छायव्व पीमाणं ॥१६ ॥

अन्वयार्थ :-

(गजकण्ण) गजकर्णवत् **(चवल)** चंचल **(लच्छी)** लक्ष्मी है। **(तह)** तथा **(अब्भपटलसारिच्छं)** अभ्रपटलवत् **(जीवं)** जीवन है। **(पीमाणं)** प्रेम **(दप्पण)** दर्पण के **(छायव्व)** प्रतिबिम्ब के समान है। **(मूढ)** हे मूर्ख ! **(णिच्चं)** हमेशा ऐसा **(चिंतेहि)** चिन्तन कर।

संस्कृत टीका :-

रे जीव ! अत्र संसारे गजकर्णवत् चपला लक्ष्मीरिति विजानीहि । पुनः जीवितव्यमभ्रपटलवज्जानीहि । रे मूर्ख ! नित्यं निरन्तरमेवानित्यं त्वया चिन्तनीयम् । किमिव ? यथा दर्पणमध्ये मुखमवलोकनात्क्षणेनादृश्यं भवति, तद्वत्प्रेमस्नेहादिकं ज्ञेयम् ।

टीकार्थ :-

रे जीव ! इस संसार में हाथी के कान की तरह लक्ष्मी भी चंचल है ऐसा तुम जानो । पुनः जीवन अभ्रपटल के समान है ऐसा तुम जानो ।

रे मूर्ख ! तुम्हे अनित्यता का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये ।

शंका :- प्रेम किसके समान है ?

समाधान :- जैसे दर्पण में मुख देखने पर क्षण में वह प्रतिबिम्ब अदृश्य होता है, वैसे ही प्रेम-स्नेहादिकों को जानना चाहिये ।

भावार्थ :-

दर्पण में कोई पुरुष अपने मुख का अवलोकन कर रहा है। दर्पण से दूर हटते ही प्रतिबिम्ब भी अदृश्य हो जाता है, तद्वत् सामने स्नेहादिक का प्रदर्शन करने वाले परिजन पीठ दिखते ही प्रेम को भूल जाते हैं ।

जीवन मेघपटल के समान क्षणिक है। धनलक्ष्मी कुंजर के श्रोत्रेन्द्रिय के समान चंचल है। अतएव भव्यजीवों को सदा सर्वदा संसार की अनित्यता का चिन्तन करना चाहिये ।

संसार की अनित्यता

णिच्चं खिज्जइ आऊ णिच्चं ढूकेइ आसणं तिमिरं।

णिच्चं जोव्वण विगलइ किं ण मुणहि एरिसं लोइ ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ :-

(णिच्चं) नित्य **(आऊ)** आयु **(खिज्जइ)** क्षय हो रही है। **(तिमिरं)** अन्धकार **(आसणं)** पास में **(ढूकेइ)** आ रहा है। **(जोव्वण)** यौवन **(विगलइ)** नष्ट हो रहा है। **(एरिसं)** ऐसा **(लोइ)** देखकर **(किं)** क्यों **(ण)** नहीं **(मुणहि)** विचार करता है ?

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! अत्र भवेऽस्य जीवस्य निरन्तरमायुः गलति। पुनः निरन्तरमासन्नं निकटं तिमिरमन्धकारः प्राप्यते। पुनः नित्यं निरन्तरं यौवनं विलयं याति। रे जीव ! अत्र संसारे ईदृशमनित्यत्वं कथं न विचारयति ?

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! इस संसार में इस जीव की निरन्तर आयु क्षीण हो रही है, पुनः सतत अन्धकार निकटता को प्राप्त हो रहा है। यौवन हमेशा विलय को प्राप्त हो रहा है।

रे जीव ! इस संसार के ऐसे अनित्यत्व का विचार तुम क्यों नहीं करते हो ?

भावार्थ :-

पूर्वबद्ध आयुकर्म के उदय से मनुष्य वर्तमान में आयुकर्म के निषेकों को भोग रहा है। आयुकर्म के निषेक नियत हैं। प्रतिसमय वे निषेक उदय में आकर झड रहे हैं। अर्थात् आयु का नाश प्रतिसमय हो रहा है। मृत्यु का अन्धकार सतत पास में आ रहा है।

यौवन भी चीरस्थायी कहाँ है ? वह भी प्रतिसमय ढलता जा रहा है। अर्थात् यौवन कल आने वाले बुढापे का संकेत दे रहा है।

अतएव भव्यजीवों को अपने मन में अनित्यता का चिन्तन करके वैराग्य भावों को दृढ़ कर लेना चाहिये।

सम्यक् विचार की आवश्यकता

लच्छी ण हु देइ पयं थक्कइ णिय पुग्गलं च वण्णं च ।
परियणु बलि विणु जीवइ किं ण मुणहि एरिसं लोए ॥१८॥

अन्वयार्थ :–

(लच्छी) लक्ष्मी अपने **(थक्कइ)** स्थान से **(पयं)** एक पद **(हु)** भी **(ण)** नहीं **(देइ)** चलती है। **(णिय)** अपना **(पुग्गलं च)** पुद्‌गलमय शरीर, **(वण्णं च)** उसका वर्ण और **(परियणु)** परिजन **(बलि)** त्याग, बलिदान **(विणु)** बिना **(जीवइ)** जीवित रहता है। **(एरिसं)** ऐसा **(लोए)** लोक **(किं)** क्यों **(ण)** नहीं **(मुणहि)** विचार करते हैं ?

संस्कृत टीका :–

रे जीव ! अत्र संसारे एषां मोहिनां प्राणिनां मरणकाले लक्ष्मीः जीवेन सह एकपदं न ददाति। पुनः पुद्‌गलमयं शरीरमपि तत्र स्थितिं न करोति, जीवेन सह न चलति।

एवमुत्प्रेक्षते - यतः पुद्‌गलमयं शरीरं कथयति। किम् ? अहं पुद्‌गलमयं शरीरं हुताशनमध्ये प्रज्वलामि, काष्ठाग्निभक्षणं करोमि परन्तु अनेन जीवेन सह न गच्छामि। कस्मात् ? दुर्जनस्वभावात्।

पुनः वर्णमाभरणादिकं जीवेन सह न गच्छति। पुनः परिजनः कुटुम्बादिकं सर्वं पुद्‌गलस्य न दृश्यते ।

रे जीव ! इन्द्रसम्भवस्वरूपं नृजन्म कथं न जानासि त्वम् ?

टीकार्थ :–

रे जीव ! इस संसार में इस मोही प्राणी के मरणकाल में लक्ष्मी जीव के साथ एक पग भी नहीं चलती। पुनः पुद्‌गलमय शरीर भी वहाँ स्थिति नहीं करता है। अर्थात् वह जीव के साथ नहीं चलता है।

यहाँ उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह पुद्‌गल शरीर जीव से कहता है। क्या कहता है ? मैं पुद्‌गलमय शरीर अग्नि में जल जाऊंगा, काष्ठ और अग्नि का मैं भक्षण करूंगा, किन्तु इस जीव के साथ नहीं जाऊंगा। वह ऐसा क्यों कहता

है ? दुर्जन का स्वभाव ऐसा ही होता है।

पुनः शरीर के वर्ण और आभूषणादिक भी परभव में जीव के साथ नहीं जाते। पुनः सब कुटुम्बीजन भी पुद्गल के साथ नहीं दिखते।

रे जीव ! इस नृजन्म को तू इन्द्र के समान क्यों नहीं जानता है ?

भावार्थः-

इस गाथा में एकत्वभावना का वर्णन किया गया है।

यह जीव अनादिकाल से पर को शरण मानकर निज से दूरानुदूर जा रहा है। पर के संग्रह में यह जीव इतना मग्न हो रहा है कि उसे अपना परिचय ही याद नहीं रह पाया है। मेरे संकटकाल में मेरे परिजन और मेरा वैभव ही मेरे लिए शरणभूत है ऐसी भ्रमपूर्ण मान्यता को मन में धारण कर जीव उन्हीं के संकलन में संलग्न है।

परभव में जीव के साथ कौन-कौन जाता है ? कोई भी नहीं। कवि मंगतराय जी ने कितना स्पष्ट लिखा है कि

कमला चलत न पैंड जाय मरघट तक परिवारा।

अपने अपने सुख को रोवैं पिता पुत्र दारा॥

(बारह भावना-१)

अर्थात् :- जब यह शरीर नष्ट हो जाता है तब लक्ष्मी जहाँ रखी थी, वहीं रह जाती है। वह एक कदम भी आगे नहीं आती। परिवार स्मशान तक ही साथ निभाता है। पिता, पुत्र और स्त्री आदि परिजन अपने-अपने सुख के लिए ही रुदन किया करते हैं।

ग्रन्थकर्त्ता उत्प्रेक्षा करते हैं कि शरीर अग्नि में भस्म हो जाने को तैयार रहता है किन्तु वह जीव के साथ नहीं जाता। वह कहता है कि मैं अग्नि में भस्म होने के लिए तैयार हूँ, मैं लकड़ियों का भक्षण करने के लिए तैयार हूँ परन्तु जीव के साथ परभव में नहीं चलूंगा। जिन आभूषणों को प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं, वे भी साथ नहीं जाते। जीव अन्यभव में अकेला ही गमन करता है। उसके साथ उसके द्वारा उपार्जित किये गये शुभाशुभ कर्म ही जाते हैं।

इस ज्वलन्त सत्य का परिचय प्राप्त करके प्रत्येक जीव को ममत्व का परिहार करना चाहिये।

मृत्यु अवश्य होगी

जह पविसहि पायालं वज्जहि देसम्मि अइसुदूरम्मि ।

वसहि महोवहि मज्झे तह कालु ण वंचणं जाइ !!19 !!

अन्वयार्थ:-

(जह) यदि **(पायालं)** पाताल में **(पविसहि)** प्रवेश करे **(अइसुदूरम्मि)** अत्यन्त सुदूरवर्ती **(देसम्मि)** देश में **(वज्जहि)** जाए **(महोवहि मज्झे)** महासागर में **(वसहि)** वास करे **(तह)** तो भी **(कालु)** काल को **(वंचणं)** धोखा **(ण)** नहीं **(जाइ)** दिया जा सकता।

संस्कृत टीका :-

रे जीव ! अत्र संसारमध्ये त्वं कालभयवशात् कदाचित् पाताले गच्छसि तर्हि कालान्मुक्तो न भवसि अथवातिदूरदेशं व्रजसि, महासागरमध्ये वा वससि तथापि कालस्त्वां न मुञ्चति।

तथा चोक्तम् -

आरोहसि गिरिशिखरं समुद्रमुल्लंघ्य यासि पातालम्।

तत्रापि विशति कालो न सहायको वर्तते तेऽन्यः ॥

टीकार्थ:-

रे जीव ! तू इस संसार में काल के भय के कारण कदाचित् पाताल में भी जायेगा, तब भी काल से नहीं छूट सकता अथवा अतिदूरवर्ती प्रदेश में भी रहेगा, सागर में भी रहेगा तो भी काल तुझे नहीं छोड़ेगा।

कहा भी है -

आरोहसि गिरिशिखरं --

अर्थात् :- भले ही तुम गिरिशिखर पर चढ़ जाओ, समुद्र को उल्लंघकर पाताल में चले जाओ, वहाँ भी काल का प्रवेश हो जाता है। मृत्यु के समय कोई अन्य सहायक नहीं होता।

भावार्थ:-

मृत्यु से बचने के लिए किए गये सारे उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। संसार का अन्त करके ही मृत्यु से बच सकते हैं।

मृत्यु की अवश्यंभाविता

जइ रक्खइ सुरसंघो रक्खइ तियसवइ विमहमहणो।
तो वि ण छूटइ जीवो पायंगो जहवि दीवम्मि ॥२०॥

अन्वयार्थ:-

(जइ) यदि इस जीव की **(सुरसंघो)** देवसमूह **(तियसवइ)** ब्रह्म और विष्णु **(विमहमहणो)** चन्द्र और सूर्य **(रक्खइ)** रक्षा करे **(तो वि)** फिर भी **(जीवो)** जीव (मृत्यु से) **(ण छूटइ)** बच नहीं सकता भले ही वह **(दीवम्मि)** द्वीपान्तरों में **(जहवि)** जाये तो भी वह मृत्यु को **(पायंगो)** प्राप्त करेगा।

संस्कृत टीका :-

हे जीव ! अत्र संसारे कालभयवशात् यदि जीवं सुरसमूहोऽपि रक्षति, सुरेन्द्रोऽपि रक्षति, ब्रह्म नारायणावपि रक्षतः, पुनः चन्द्रः सूर्यः रक्षति, पुनः यदि चण्डिकाक्षेत्रपालकुलदेव्यः रक्षन्ति, पुनः स्वजन परिवारः रक्षति, पुनः श्वसुरपक्षी यदि रक्षति, पुनः अन्यः कोऽपि रक्षति तर्हि एते सर्वे स्वकायं कालमुखात् किं न रक्षन्ति ? तस्मात्कारणादिमं जीवं कालभयवशात् न कोऽपि रक्षति। पुनः कदाचिदयं जीवः कालभयवशादसंख्य द्वीपान्तरे गच्छति, तर्हि न कोऽपि रक्षति।

उक्तं च -

पुत्रा दारा नराणां स्वजनकुलजना बन्धुवर्गाः प्रिया वा
माता भ्राता पिता वा स्वसुरकुलजना भव्यभोगाभियुक्ताः।
विद्यारूपं क्षमाढ्यं बहुगुणनिलयं यौवनेनात्तदर्पं
सर्वे ते मृत्युकाले जहति हि पुरुषं धर्म एकः सहायः ॥

तथा च -

आदित्यस्य गतागतैरहरहं संक्षीयते जीवितम्।
व्यापारैर्बहुकर्मभारनिरतैः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजरापरीतमरणं त्रासोऽपि नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

टीकार्थ :-

हे जीव। इस संसार में काल के भय से जीव का रक्षण सुरसमूह भी नहीं कर सकता, देवेन्द्र भी नहीं कर सकता, ब्रह्मा-नारायण भी नहीं कर सकते, चन्द्र-सूर्य भी नहीं कर सकते, चण्डिका क्षेत्रपालादि, कुलदेवी-देवता भी नहीं कर सकते। पुनः स्वजन, श्वसुरपक्ष के लोग रक्षण करने में समर्थ नहीं हैं। अधिक क्या ? अन्य कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकते। यदि वे इस जीव को काल से बचा सकते थे तो वे फिर स्वयं अपना रक्षण क्यों नहीं कर लेते ? इसकारण से इस जीव को काल से कोई नहीं बचा सकता। कदाचित् यदि इस भय से जीव असंख्य द्वीपान्तरों में जावे तो भी उसकी रक्षा कोई नहीं कर सकता है। कहा भी है -

पुत्रा दारा नराणां ---

अर्थात् :-

पुत्र, स्त्री, स्वजन, बन्धुवर्ग, मित्र, माता, पिता, भाई, श्वसुरपक्षीय लोग इस जीव को मरते समय छोड देते हैं। चाहे भव्य भोगों से युक्त हो, विद्या से सहित हो, क्षमा से परिपूर्ण हो, बहुगुणों का भण्डार हो, यौवन के दर्प से आपूरित हो, मरण के समय में कोई सहायक नहीं होता है। एक धर्म ही मृत्यु के बाद जीव के साथ जाता है। वही एक सहायक है।

और भी कहा है -

आदित्यस्य गतागतैरहरहं ---

अर्थात् :-

सूर्य के गमनागमन से नित्य आयु का क्षय हो रहा है। विविध व्यापार में रत होने से इस जीव को यह भी मालूम नहीं पड़ता कि कितना काल व्यतीत हो गया है ? जन्म, जरा, मरण से ग्रस्त जीवों को देखकर उसे भय उत्पन्न होता नहीं है। लगता है कि यह जग मोहरूपी मदिरा को पीकर के उन्मत्त हो रहा है।

भावार्थ :-

मरते समय इस जीव को कोई नहीं बचा सकता।

लिखा भी है -

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरियाँ जीव को, कोई न राखन हार॥

मन्त्रतन्त्रादि मृत्यु से नहीं बचा सकते

णउ मंते णउ तंते ओसह मणि कणयभूमिगोदाणं।
णो जीवहसि अयाणय जं जाणिहि तं कुणि जासू॥२१॥

अन्वयार्थ :-

(अयाणय) हे अज्ञानी! **(मंते)** मन्त्र से **(तंते)** तन्त्र से **(ओसह)** औषध **(मणि)** मणि **(कणय)** स्वर्ण **(भूमि)** भूमि और **(गोदाणं)** गोदान से **(णो)** नहीं **(जीवहसि)** जी सकेगा **(जं)** ऐसा **(जाणिहि)** जानकर **(जासू)** जिस कार्य से छूटेगा **(तं)** उस कार्य को तू **(कुणि)** कर।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य! अत्र संसारे जीवोऽयं कालभयवशान्मन्त्रतन्त्रादिभिः न रक्ष्यते। पुनरौषधमपि न रक्षति। पुनः सुवर्णदानं, गोदानं, भूमिदानं, वस्त्रदानमित्यादिकेषु प्रचुरदानेषु दत्तेष्वपि न कोऽपि जीवमिमं यममुखाद् रक्षति। तेषु दत्तेष्वपि जीवो न जीवतीति भावः।

तथोक्तम् -

न मन्त्रमौषधं-तन्त्रं न माताभ्रातरौ पिता।
न रक्षति कालमुखात् यत्कृतं तद्धि भुज्यते॥

टीकार्थ :-

हे शिष्य! इस संसार में काल के भय से इस जीव की रक्षा मन्त्र-तन्त्रादिक भी नहीं करते, औषधियाँ भी इसकी रक्षा नहीं करतीं। पुनः स्वर्णदान, गोदान, भूमिदान, वस्त्रदान इत्यादिक प्रचुर दान करने से भी यम के मुख से कोई बचा नहीं सकता। दान देकर भी जीव जीवित नहीं रहता, यह इस गाथा का भाव है।

कहा भी है -

न मन्त्रमौषधं तन्त्रं ---

अर्थात् :-

काल के मुख से इस जीव को मन्त्र, तन्त्र, औषधि, माता, भाई, पिता आदि कोई भी नहीं बचा सकता। इस जीव ने जो कुछ किया है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है।

भावार्थ :-

मृत्यु जीवन की अनिवार्य घटना है। जीवन के पहले क्षण से ही जीव मृत्यु की यात्रा प्रारंभ कर देता है।

जैनागम में मृत्यु के सत्रह भेद किये गये हैं। उनमें एक भेद है - आवीचिमरण। प्रतिक्षण आयु का एक-एक निषेक उदय में आकर खिर जाता है। यह जीव की प्रतिपल होने वाली मृत्यु ही है। इसी को आवीचिमरण कहा गया है।

प्रतिपल मृत्यु का ध्यान रहने पर जीव पाप कर ही नहीं सकता। इसीलिए प्रतिसमय मृत्यु की अनिवार्यता का चिन्तन किया जाना चाहिये। क्या इस जीव को कोई मृत्यु से बचा सकता है ? नहीं।

आचार्य श्री वट्टकेर जी लिखते हैं कि

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य॥

(मूलाचार :- ६९७)

अर्थात् :- घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, बल, वाहन, मन्त्र, औषधि, विद्या, माया, नीति और बन्धुवर्ग ये मृत्यु के भय से रक्षक नहीं हैं।

अज्ञानचेता लोग मृत्यु से बचने के लिए मृत्युंजय आदि मन्त्रों का, विविध तन्त्रों का प्रयोग करते हैं परन्तु वे मन्त्र-तन्त्र उन्हें मृत्यु से नहीं बचा सकते। किसी भी तरह की औषधि जीव को मृत्यु के मुख से नहीं बचा सकती है। संसार में ऐसी कोई मणि नहीं है, जो इस जीव को मृत्यु के जाल से बचा सके।

कुछ अज्ञानी जीव मृत्यु से बचने के लिए सुवर्ण का दान, भूमि का दान और गाय आदि का दान करते हैं, परन्तु किसी भी प्रकार का दान जीव

को मृत्यु से बचाने में सक्षम नहीं है।

इस परम सत्य को जानकर प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि वह जिनधर्म की शरण को प्राप्त कर लेवें ताकि आत्मस्वरूप को उपलब्ध करके मृत्यु पर सदा-सदा के लिए विजय प्राप्त किया जा सके।

नरक में अपार दुःख हैं

जइ संसमरसि अयाणय णरये जं जं च असुहमणुभवियं।
अछउ उता अणंतिय भत्तं पि ण रुच्चए तुच्छं॥ २२॥

अन्वयार्थ :-

(अयाणय) हे अज्ञानी! **(जइ)** यदि **(णरये)** नरक में **(जं जं च)** जो जो **(अणंतिय)** अनन्त **(असुहमणुभवियं)** अशुभ अनुभव **(अछउ)** हुआ है, उसका तू **(संसमरसि)** स्मरण करेगा **(उता)** वैसा (स्मरण पर हो तो तुझे) **(तुच्छं)** थोड़ा-सा **(भत्तं पि)** भोजन भी **(ण)** नहीं **(रुच्चए)** भायेगा।

संस्कृत टीका :-

रे अज्ञानिन्! हे बहिरात्मन् जीव! यदि त्वं नरकादिदुःखस्वरूपं विचारयसि तर्हि त्वया नरकस्य दुःखमनन्तवाराननुभूतं भुक्तम्। पुनः यदि तेषां नारकाणामशुभं दुःखं त्वया स्वचित्ते संस्मियते तर्हि भवते लवमात्रं भोजनं न रोचते।

टीकार्थ :-

रे अज्ञानी! हे बहिरात्मन् जीव! यदि तू नरकादि दुःखों के स्वरूप का विचार करेगा तो अनन्त बार तूने नरकों में दुःखों का अनुभव किया है। उन नरकों के अशुभ दुःखों का अपने मन में स्मरण करेगा तो तुझे कणमात्र भी भोजन रुचिकर नहीं होगा।

भावार्थ :-

नरक में अनन्त दुःख हैं उनका वर्णन कर पाना छद्मस्थजीवों के लिए संभव नहीं है। उन दुःखों को इस जीव ने अपने मिथ्यात्वादि विभावों के कारण अनन्तबार भोगा है।

(नरक के दुःखों की अधिक जानकारी हेतु एक बार अवश्य पढ़िये मुनि श्री के द्वारा लिखित कैद में फँसी है आत्मा नामक लघु कृति – संपादक)

नरक में सहे गये दुःखों का स्मरण होने मात्र से ही जीव को भोजन नहीं रुचता। जब स्मरणमात्र से इतना दुःख होता है तब भोगने वालों की क्या दशा होगी ? जीव को नरक में ले जाने वाले कुकर्म उपार्जित नहीं करने चाहिये।

गर्भवास और बाल्यावस्था के दुःख

गब्भंते इण दुक्खं सहियं दुस्सहं णरयस्स सुविसेसं।
बालत्तणेण सहियं तं सयलं लोयपच्चक्खं ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ :-
(गब्भंते) गर्भ में **(इण)** जो **(दुस्सहं)** दुस्सह **(दुक्खं)** दुःख **(सहियं)** सहे हैं वे **(णरयस्य)** नरक से **(सुविसेसं)** सुविशेष हैं। **(बालत्तणेण)** बाल्यावस्था में जो दुःख **(सहियं)** सहे हैं **(तं)** वे **(सयलं)** सब **(लोय)** लोगों के लिये **(पच्चक्खं)** प्रत्यक्ष हैं।

संस्कृत टीका :-

रे जीव ! अस्मिन्संसारमध्ये त्वया गर्भवासे कीदृशं दुःखं भुक्तम् ? शृणु कथयामि। तद्गर्भे नरकदुःखादधिकं दुःखं भुक्तम्।

उक्तञ्च :-

सूई अग्गवणाइस्स रुज्जमाणस्स गोयमा।
जावइ जंतो णो दुःखं गब्भे अट्ठगुणं तहा ॥

इति मत्वा गर्भवासोत्पन्नं दुःखं नरकस्य च दुःखमेकसदृशं ज्ञेयम्। पुनस्त्वया बालावस्थायां नरकसदृशं दुःखं भुक्तम्। तद्दुःखं सर्वे-लोका जानन्ति।

टीकार्थ :-

रे जीव ! इस संसार में तुमने गर्भवास में जो दुःख भोगे उन्हें तुम सुनो, मैं उसका कथन कर रहा हूँ। तुमने गर्भ में नरक के दुःखों से भी अधिक दुःख भोगा है।

कहा भी है -

सूई अग्गवणाइस्स --

अर्थात् :-

सुई के अग्रभाग से छेदे जाने से जो दुःख इस जीव को होता है, उससे आठ गुना अधिक दुःख गर्भ में होता है।

ऐसा जानकर गर्भवास के दुःखों को नरक के सदृश्य जानो। फिर बाल्यावस्था में भी नरक के दुःखों के समान दुःख को तुमने भोगा है, उन दुःखों को सभी लोग जानते हैं।

भावार्थ :-

गर्भस्थ अवस्था में तथा जन्म के समय में जीवों को अतीव वेदना सहन करनी पड़ती है। माता के उदर में अधोमुख रहना, माता के द्वारा खाये गये अन्न के रस का सेवन करना और अंगोपांगों को संकुचित करके रहना, जैसे अनेक प्रकार के दुःख गर्भ में सहने पड़ते हैं।

उन दोनों अवस्थाओं के दुःखों का वर्णन करते समय पण्डितप्रवर श्री दौलतराम जी लिखते हैं कि :-

जननी उदर वस्यो नवमास, अंग संकुचतैं पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवै ओर॥

(छहढाला :- १/१२)

अर्थात् :- माता के गर्भ में यह जीव नौ माह तक रहा। वहाँ उसे अंगों को संकुचन करके रहना पड़ता है। उस कारण से जीव ने बहुत दुःख प्राप्त किये।

गर्भ से बाहर निकलते समय इस जीव ने जो महान दुःख प्राप्त किये हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता है।

नरक में जितना दुःख इस जीव को होता है उतना दुःख यह जीव गर्भावस्था में भोगता है।

बाल्यावस्था के दुःख तो सर्वप्रत्यक्ष हैं। कार्याकार्य के ज्ञान से हीन होकर जो कुकृत्य इस जीव ने किये हैं, उनका दर्शन अथवा स्मरण भी मनुष्य के लिए वैराग्य का कारण बन जाता है।

आचार्य श्री अमितगति जी लिखते हैं कि

बाले यदि कृतं कोऽपि कृत्यं संस्मरति स्वयम्।
तदात्मन्यपि निर्वेदं यातन्यत्र न किं पुनः॥

(मरणकण्डिका -१०६५)

अर्थात् :- बाल्यावस्था में अपने व्दारा जो अयोग्य कार्य किये गये, उनका स्मरण भी हो जाय तो मनुष्य को वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है फिर अन्य के विषय में क्या निर्वेद नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा।

बाल्यावस्था के समस्त दुःख तो सर्वप्रत्यक्ष ही हैं।

यौवनावस्था के दुःख

कस्स वि धणेण रहियं कस्स वि मणविरह वेयणा दुक्खं।
कस्स वि इट्ठ विजोगो कह मूढय जोव्वणे सुक्खं ॥२४॥

अन्वयार्थ :-

(कस्स वि) कोई **(धणेण)** धन से **(रहियं)** हीन हैं, **(मण)** मन **(विरहवेयणा)** विरहवेदना से **(दुक्खं)** दुःखी है, **(कस्स वि)** किसी को **(इट्ठविजोगो)** इष्ट का वियोग है। **(मूढय)** हे मूढ ! **(जोव्वणे)** यौवन में **(सुक्खं)** सुख **(कह)** कहाँ है ? अर्थात् कहीं भी नहीं।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! अस्य संसारस्य दुःखं कथयामि, त्वं शृणु। केचन लोका धनरहिताः कामविरहवेदनाभिः दुःखिनो भवन्ति। केचन लोका इष्टवियोगेन दुःखं भुञ्जन्ते। रे मूढ ! अत्र संसारे कथं सुखं भवति ? अपि तु न भवति। केचिल्लोकात्यन्तरागैः दुःखं भुञ्जन्ते।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! इस संसार के दुःखों को मैं कहता हूँ, तुम सुनो। कोई लोग धनरहित हैं, कोई कामविरह की वेदना से दुःखी हैं, कोई इष्टवियोग के दुःख भोग रहे हैं। रे मूढ़ ! इस संसार में सुख कहाँ है ? अपितु नहीं है। कुछ लोग अत्यन्त राग के कारण दुःख भोगते हैं।

भावार्थ :-

यौवनावस्था भी सुख का नियामक कारण नहीं है। इस अवस्था में भी कुछ लोग अनेक प्रकार का पुरुषार्थ करने के उपरान्त भी धन को नहीं पाते हैं। फलतः वे धन से रहित होने के कारण दुःखी हैं। कुछ लोगों के पास अतुल धन है, परन्तु अधिक पाने की इच्छा से अथवा वासना की तृप्ति न हो

पाने के कारण से उत्पन्न हुई विरह की वेदना से दुःख उठा रहे हैं। कोई लोग अपने इष्ट का वियोग हो जाने से दुःखी हैं। अर्थात् सारा संसार ही दुःखी है। इस संसार में कोई भी जीव सुखी नहीं है। सुखी होने का एकमात्र उपाय आत्मस्वभावाभिमुख होकर प्रवृत्ति करना है।

संसार के दुःख

कस्स वि कुरूवकायं कस्स वि तियपुत्त णत्थि गेहम्मि।
कस्स वि तणु पीरमई संसारे रे सुहं कत्तो ॥२५॥

अन्वयार्थ :-

(कस्स वि) किसी की **(कुरूवकायं)** काया कुरूप है। **(कस्स वि)** किसी के **(गेहम्मि)** घर में **(तिय)** स्त्री **(पुत्त)** पुत्र **(णत्थि)** नहीं है। **(कस्स वि)** किसी का **(तणु)** शरीर **(पीरमई)** पीड़ित है। **(रे)** अरे! **(संसारे)** संसार में **(सुहं)** सुख **(कत्तो)** कहाँ है ? कहीं भी नहीं।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! कस्यचित् पुरुषस्य कायः कुरूपः। पुनः कस्यचित् पुरुषस्य स्त्री नास्ति। पुनः कस्यचिद्गृहे पुत्रो नास्ति। पुनः कस्यचिद्गृहे स्त्रीपुत्रद्वयमपि नास्ति। पुनः कश्चित्पुरुषः तनुरोगात् पीडितोऽस्ति।

हे भव्यपुरुष ! अत्र संसारे सुखं कुत्रचिन्नास्ति। तेन त्वं जिनधर्मं कुरु येन सुखं भवति।

टीकार्थ :-

हे शिष्य। किसी पुरुष की काया कुरूप है। किसी पुरुष को स्त्री नहीं है। किसी के घर में पुत्र नहीं है। किसी के घर में स्त्री व पुत्र दोनों ही नहीं हैं। कोई पुरुष शरीर में होने वाले रोगों से दुःखी है।

हे भव्यपुरुष ! इस संसार में सुख कहीं भी नहीं है। अतएव तुम जिन-धर्म को धारण करो, जिससे तुम्हें सुख होगा।

भावार्थ :-

इस संसार में कोई भी जीव अपने आप में पूर्ण सुखी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति दुःखी है। कोई तन से तो कोई मन से। किसी के दुःख कुरूप काया के

कारण हैं, किसी के दुःख स्त्रीहीनता के हैं, किसी के दुःख पुत्रहीनता के हैं, किसी के घर में स्त्री और पुत्र दोनों भी नहीं है।

जैनधर्म का आचरण जिसने किया है, वही जीव सुखी हो सकता है। अतएव हे भव्यजीवो ! धर्म की शरण में अपना जीवन व्यतीत करो।

बुढ़ापे का दुःख

थेरत्तणेण दुक्खं सहियं दुसहं वि किंवि वीसरियं।
जेण वि विसय विमोहिय किं वि रज्जंते हि अप्पाणं ॥२६॥

अन्वयार्थ :-

(थेरत्तणेण) बुढ़ापे में **(दुसहं वि)** जो दुस्सह **(दुक्खं)** दुःख **(सहियं)** सहे उसे **(किं विं)** क्यों **(वीसरियं)** भुला दिया **(जेण विं)** जिससे **(विसय)** विषय **(विमोहिय)** मोहित होता हुआ **(हि)** निश्चयतः **(अप्पाणं)** आत्मा को **(किं वि)** क्यों **(रज्जंते)** रंजायमान करता है ?

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! पुनः संसारस्य कीदृशं दुःखम् ? थेरत्तणेण वृद्धत्वेनायं जीवः करेण यष्टिकां गृहीत्वातिदुःखेन गमनं करोति। ईदृशं दुःखम्। रे मूढ जीव ! त्वयानन्तवारान् भुक्तम्। तद्दुःखं कथं विस्मृतः ? रे मूढ ! त्वं विषयमोहवशात् कथं परोपरि रतिं करोषि ? स्वात्मचिन्तनं न करोषि ?

उक्तञ्च -

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं जातं दशनविहीनं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥

पुनश्चोक्तम् -

नानायोनिं व्रजित्वा बहुविधमसुखं वेदनां वेदयित्वा
संसारे चातुरङ्गे जनिमरणयुतां दीर्घकालं भ्रमित्वा।
अन्योन्यं भक्षयन्ति स्थलजलखचराः केन योनीषु जाता
लब्धं ते मानुषत्वं न चरति सुतपो वाञ्छतेऽसौ वराकः ॥
कति न कति न वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः।

कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः ।
नियतमिह न हि स्यादस्ति सौख्यं च दुःखं,
जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा ॥

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! इस संसार के दुःख कैसे हैं ? बुढापे के कारण यह जीव हाथ में लाठी लेकर अतिकष्ट से गमन करता है। ऐसे दुःखों का रे मूढ ! तूने अनन्तबार भोगा है, उन दुःखों को तूने क्यों भुला दिया ? रे मूढ ! तू विषय मोह के वश होकर परद्रव्य से रति क्यों करता है ? स्वात्मचिंतन क्यों नहीं करता ?

कहा है-

अङ्गं गलितं पलितं ---

अर्थ :- शरीर गल गया, सिर पर सफेदी छा गयी, मुख में दांत नहीं रहे, वृद्ध होकर लाठी लेकर चलने लगा, फिर भी आशा उसका पिछा नहीं छोडती ।

और भी कहा है -

नानायोनिं व्रजित्वा -

अर्थ :- अनेक योनियों में घूमकर, बहुविध दुःख व जन्म-मरण से युक्त कष्ट को भोगकर तथा चतुर्गतिरूप इस संसार में बहुल कालपर्यन्त घूमकर चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होकर, खगचर, जलचर, स्थलचर परस्पर का भक्षण कर रहे हैं । किसीतरह तुझे मानव जन्म मिला है फिर भी तू विषयों की इच्छा करता है । तप क्यों नहीं करता ?

आगे और कहते हैं कि-

कति न कति न वारान् -

अर्थ :- कितनी-कितनीबार मैं ऐश्वर्यमान भूपति हुआ हूँ ? कितनी-कितनी बार मैं कीट हुआ हूँ ? इस अस्थिर संसार में सुख दुःख का कोई निश्चय नहीं है, इसलिए मुझे सुख में आनन्द एवं दुःख में रुदन करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

भावार्थ :-

बुढापे में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, दाँतों की पंक्ति विलय को प्राप्त हो जाती है, आँखों की ज्योति नष्ट हो जाती है, कानों की शक्ति विनष्ट हो जाती है और बुद्धि लुप्तप्रायः होने लगती है। अर्थात् बुढापा अति कष्टदायक है। ऐसा जानकर युवावस्था में ही हमें धर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिये।

पाप का फल

पावेण य उप्पण्णो वसियो दुक्खेण गब्भवासम्मि।
पिंडं पावं बद्धं अज्जवि पावे रईं कुणई ॥ २७॥

अन्वयार्थ :-

(पावेण य) पाप से **(गब्भवासम्मि)** गर्भवास में **(उप्पण्णो)** उत्पन्न हुआ **(दुक्खेण)** दुःख से **(वसियो)** वास करता हुआ **(पावं)** पाप **(पिंडं)** पिण्ड **(बद्धं)** बांध रहा है। **(पावे)** पाप का **(अज्जवि)** अर्जन कर **(रईं)** राग **(कुणई)** करता है।

संस्कृत टीका :-

रे जीव ! अत्र संसारमध्ये मोहविषयवशात्पापेन कृत्वा त्वमुत्पन्नः। क्व ? मलमूत्रदुर्गन्धाद्यभाजने गर्भावासमध्ययुत्पन्नः। तत्र स्थाने रतिं कृत्वा पापमयं पिण्डं बद्धम्। तर्ह्यधुना पापोपरि विषयोपरि कथं रतिं करोषि ?

उक्तञ्च -

याता याता रतिं तत्र, येऽपि ते तेऽपि मर्दिताः।
अतो लोकस्य दैत्यात्म्यं, वैराग्यं किं न जायते ?

पुनश्चोक्तम् -

वैराग्यात्स्वसुखं चैव, वैराग्याद्दुःखनाशनम्।
वैराग्यात्काय आरोग्यम्, वैराग्यान्मोक्षजं सुखम् ॥

टीकार्थ :-

रे जीव ! इस संसार में मोह से व विषयों के वश से पापों को करके तुम

उत्पन्न हुये हो। कहाँ ? मलमूत्र से दुर्गन्धित गर्भवास में उत्पन्न हुये हो। उस स्थान में राग करके पापपिण्ड से बन्ध गये। तो भी पापरूप विषयों से रति क्यों करते हो ?

कहा है –

याता याता रतिं –

अर्थ :- जो-जो भी विषयों में राग करते हैं, वे-वे नष्ट हुए हैं। इसलिए संसार दैत्यवत् है। जीव को वैराग्य क्यों नहीं होता ?

और भी कहा है –

वैराग्यात्स्वसुखं चैव–

अर्थ :- वैराग्य से स्वात्मिक सुख प्राप्त होता है, वैराग्य से दुःख का नाश होता है। वैराग्य से काया आरोग्यवान बनती है और वैराग्य से मोक्ष का सुख प्राप्त होता है

भावार्थ:-

मिथ्यात्व व विषयरति ये दो संसार में भ्रमण करने के मूल कारण हैं। इसी कारण बहु दुःखदायक गर्भवास में यह जीव उत्पन्न होता है। वह गर्भ मलमूत्रादि से दुर्गन्धित है। वहाँ भी रागादि भावों से यह जीव पापकर्मों का बन्ध करता है।

पापों से मुक्त होकर आत्मरमण करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता होती है। इष्ट वस्तुओं में प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट वस्तुओं में अप्रीतिरूप द्वेष इन दोनों के वश हुआ जीव कर्मों के द्वारा बद्ध होता है। अतः साधक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह परवस्तुओं के प्रति अपने विकल्पबुद्धि का संकोच कर लेवें। परवस्तुओं के प्रति विरक्ति को वैराग्य कहते हैं।

आचार्य श्री अकलंक देव ने लिखा है –

चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद् वा शब्दादिभ्यो विरञ्जनं विराग इति व्यवसीयते।

विरागस्य भावः वा वैराग्यम्।

अर्थात् :- चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर अथवा उसके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के कारण शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना विराग है।

विराग का भाव या कर्म वैराग्य कहलाता है।

वैराग्य सम्यग्दृष्टि का भूषण है। वैराग्य सम्यक् चारित्र का परिचायक है। वैराग्य साधना का प्राण है। वैराग्य आत्मान्वेषण का प्रशस्त महाराजमार्ग है। वैराग्य के बिना जीव संसार से पार नहीं हो सकता। यही एक ऐसी नाव है कि जो जीव के समस्त गुणरूपी रत्नों को मोक्ष के महल तक पहुँचाती है। अतः जीवों को वैराग्य की परम शरण ग्रहण करनी चाहिये।

प्रमादी की निन्दा

उच्छिण्णा किं णु जरा णट्ठा रोगा पलाइया मिच्चू।
येण य मूढ णिचित्तो अत्थहि णिच्चं समासितो विसयं॥२८॥

अन्वयार्थ :-

(मूढ) हे मूर्ख! **(किं णु)** क्या तेरा **(जरा)** बुढापा **(उच्छिण्णा)** नष्ट हुआ? **(रोगा)** रोग **(णट्ठा)** नष्ट हुये? **(मिच्चू)** मृत्यु **(पलाइया)** पलायन कर गयी? **(येण य)** जिससे तू **(णिचित्तो)** निश्चिन्त होकर **(णिच्चं)** सतत **(अत्थहि)** द्रव्यों में और **(विसयं)** विषयों में **(समासितो)** रम रहा है।

संस्कृत टीका :-

रे जीव! यावत्त्वं जरया न ग्रस्तः यावत्तव समीपे जरा नागता तावत् सर्वे रोगमृत्य्वादयो नाशं गताः सन्ति। तस्मात्कारणात्त्वं रे जीव! निश्चिन्तोऽभवः। त्वं यावज्जरया न वेष्टितस्तावत्पञ्चेन्द्रियाणां विषयान्मुक्त्वा स्वात्मनः कार्यं कर्तव्यम्।

टीकार्थ :-

हे जीव! जबतक तुम जरा से ग्रस्त नहीं हो जाते हो, तुम्हारे समीप में जबतक बुढापा नहीं आता तबतक सब रोग व मृत्यु आदि नाश को प्राप्त होते हैं। (तेरे पास नहीं आती) उसकारण से हे जीव! निश्चिन्त मत हो। जबतक बुढापा तुम्हें न पकड़ ले, तबतक तुम पंचेन्द्रियों के विषयों को छोड़कर आत्मकल्याण का कार्य कर लो।

भावार्थ:-

अभी बुढापा नहीं आया, रोग नहीं हुये, तो मृत्यु भी नहीं होगी ऐसी

भ्रान्त धारणा को मन में धारण कर जीव को निश्चिन्त नहीं होना चाहिये। अशुभकर्म का कब उदय आयेगा ? कोई पता नहीं। जब भी वे उदय में आयेंगे, जीव रोगादिक के द्वारा ग्रस्त हो जायेंगे। आयुकर्म के क्षीण होने पर मृत्यु निश्चित् द्वार खटखटायेगी। अतएव हे जीव ! तुम गाफिल मत होओ। मृत्यु, रोग वा जरावस्था तुम्हें कष्ट दे, उससे पहले ही तुम आत्मा का कल्याण कर लो।

परतीर को प्राप्त करने का उपाय

भीम भवोवहि पडियो झंकोलिय दुक्ख पावलहरीहिं।
अवलंबिय जिणधम्मे आसण्णं करहि परतीरं ॥२१॥

अन्वयार्थ :-

(भीम) भयंकर **(भवोवहि)** संसार सागर में **(पडियो)** पड़कर **(दुक्ख)** दुःख रूप **(पावलहरीहिं)** पाप लहरियों के द्वारा तुम **(झंकोलिय)** झंकोलित हो रहे हो। **(जिणधम्मे)** जैनधर्म का **(अवलंबिय)** अवलम्बन करो **(परतीरं)** परतीर को **(आसण्णं)** निकट **(करहि)** कर लो।

संस्कृत टीका :-

रे जीव ! त्वं संसारसागरमध्ये पतितः सन् पापलहरीभिः झङ्कोलितश्च सन् मुहुर्वारंवारं परिभ्रमणं करोषि इति मत्वा जिनधर्ममिवावलम्बय। हे मूढ ! त्वं विषयासक्तो मा भव। मोक्षरूपं परतीरं निकटं कुरु।

टीकार्थ :-

रे जीव ! तुम संसारसागर में गिरकर पापरूपी लहरों के द्वारा झंकोलित होकर बार-बार परिभ्रमण कर रहे हो। ऐसा जानकर तुम जैनधर्म का अवलम्बन करो।

हे मूढ ! तुम विषयासक्त मत होओ। मोक्षरूपी परतट को तुम अपने निकट कर लो।

भावार्थ :-

संसार सागर के समान है। संसार के महासागर में पापों की लहरें उछल रही हैं, विषयासक्त जीव उन लहरों में झूलता हुआ मस्त हो रहा है,

रोगरूपी महामत्स्य इस संसार सागर में बसते हैं, बुढ़ापे का भयंकर तूफान इस सागर में प्रतिक्षण आता है, भोगों के भंवर में उलझा हुआ यह मूढ़ चेतन अनादिकाल से अनन्त दुःखों को सदैव सहन करता आ रहा है। ग्रन्थकर्त्ता कवि कहते हैं कि हे भव्य! तुम विषयासक्ति को तज कर स्वानुभूति की उपलब्धि करने हेतु जैनधर्म का आचरण करो। जैनधर्म का आचरण ही तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

जैनधर्म की आवश्यकता

जइ लच्छी होइ थिरं पुण रोगा ण खिज्जई मिच्चू।
तो जिणधम्मं कीरइ अणादरं णेव कायव्वं ॥३०॥

अन्वयार्थ :-

(जइ) जिससे **(लच्छी)** लक्ष्मी **(थिरं)** स्थिर **(होइ)** होती है **(पुण)** और **(रोगा)** रोग **(ण)** नहीं होते **(मिच्चू)** मृत्यु **(खिज्जई)** नष्ट होती है **(तो)** उस **(जिणधम्मं)** जैनधर्म को **(कीरइ)** आचरण करो **(अणादरं)** अनादर **(णेव)** नहीं **(कायव्वं)** करना चाहिये।

संस्कृत टीका :-

हे जीव! येन धर्मेण कृत्वा लक्ष्मीः स्थिरा भवति, पुनः रोगाः मृत्युश्च क्षयं यान्ति तर्हि कस्माज्जिनधर्मः न क्रियते? अपितु क्रियते। इति मत्वा मिथ्यामतं न कर्तव्यम्।

टीकार्थ :-

हे जीव! जिस धर्म के करने से लक्ष्मी स्थिर होती है, रोग व मृत्यु क्षय को प्राप्त होते हैं, उस जिनधर्म को धारण क्यों नहीं करना चाहिये? अर्थात् करना चाहिये। ऐसा जानकर तुम मिथ्यामत को धारण मत करो।

भावार्थ :-

विधिवत् धर्म को धारण करने से लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्त होते हैं। कहा भी है कि

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान॥

धर्म से मनुष्य को इसलोक में चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्रादि की विभूति प्राप्त होती है तो परलोक में इन्द्र और अहमिन्द्रादिक की विभूति प्राप्त होती है। इसतरह धर्म अभ्युदयों का प्रदाता है। धर्म के कारण ही जीव शाश्वत सुख के आलयस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। अतएव धर्म का सतत आदर करना चाहिये। जो जीव धर्म करता है, उसका ही जीवन सार्थक बन जाता है। धर्म के बिना मनुष्य तिर्यंच के समान है।

धर्म को धारण करने की प्रेरणा

जइ इच्छइ परलोयं मिल्लहिं मोहं च चयहिं परकोहं।
विसयसुहं वज्जिजिहं अणुहवहि जिणोइयं धम्मं ॥३१॥

अन्वयार्थ :-

(जइ) यदि **(परलोयं)** परलोक **(मिल्लहिं)** मिलने की **(इच्छइ)** इच्छा करते हो(तो) **(मोहं)** मोह **(च)** और **(परकोहं)** पर के प्रति क्रोध **(चयहिं)** छोड़ दो **(विषयसुहं)** विषयसुख का **(वज्जिजिहं)** त्यागकर **(जिणोइयं)** जिनेन्द्र कथित **(धम्मं)** धर्म का **(अणुहवहि)** अनुभव करो।

संस्कृत टीका :-

हे जीव ! यदि त्वं परलोकं मोक्षपदमिच्छसि तर्हि त्वं मोहान्धकारं दूरी कुरु। पुनः पञ्चेन्द्रियाणां सप्तविंशतिविषयाणां सुखं मुञ्च। पुनः पञ्चविधं मिथ्यात्वं मुक्त्वा जिनधर्मं कुरु।

टीकार्थ:-

हे जीव ! यदि तुम परलोक अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करने की इच्छा करते हो तो तुम मोहान्धकार को दूर करो, पंचेन्द्रियों के सत्ताईस विषयों को छोड़ दो। पाँच प्रकार के मिथ्यात्व को छोड़कर जैनधर्म को धारण करो।

भावार्थ:-

आत्मा के बाह्य चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों के पाँच भेद हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के आठ, रसनेन्द्रिय के पाँच, घ्राणेन्द्रिय के दो, चक्षुरिन्द्रिय के पाँच और कर्णेन्द्रिय के सात इन सबको मिलाने पर पाँच इन्द्रियों के सत्ताईस विषय होते हैं। तत्त्व के प्रति अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के

पाँच भेद हैं। यथा - एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व व अज्ञान मिथ्यात्व।

मिथ्यात्व व विषयों के प्रति रागभाव ये दोनों भाव आत्मा को अपने स्वरूप से दूरानुदूर कर देते हैं। इससे जीव पंचपरिवर्तनरूप संसार में परिभ्रमण करके अनन्त दुःखों को भोगते हैं। इनका त्याग करके धर्म में मन को लगाने से आत्मा का कल्याण होता है।

आरंभ का त्याग करो

मुइसु विविह आरंभं आरंभे होइ जीवसंघारो।
संघारेण य पावं पावेण य णरयवासम्मि ॥३२॥

अन्वयार्थ :-

(विविह आरंभं) विविध आरंभ को **(मुइसु)** छोड़ो **(आरंभे)** आरम्भ से **(जीवसंघारो)** जीवों का घात होता है **(संघारेण य)** जीवघात करने से **(पावं)** पाप **(होइ)** होता है **(पावेण य)** और पाप से **(णरयवासम्मि)** नरक में आवास प्राप्त होता है।

संस्कृत टीका :-

रे मूर्ख जीव! त्वं पापारम्भं त्यज। कस्मात्? पापारम्भात् षट्कायजीवानां संहारो भवति, पुनः प्राणिनां संहारात्पापं भवति पश्चात् पापात् नरके दुःसहं दुःखं भुङ्क्ते।

टीकार्थ :-

रे मूर्ख जीव! तुम पापरूप आरंभ का त्याग करो। क्यों? पाप के कारणभूत आरंभ से षट्कायिक जीवों का संहार होता है। उन प्राणियों का घात होने से पाप उत्पन्न होता है। पश्चात् पाप से नरक में दुःखों को भोगना पड़ता है।

भावार्थ :-

पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव और त्रसकायिक जीव ये षट्कायिक जीव हैं। आरंभ करने से इनका घात होता है। हिंसा पाप का

आस्रव व बंध कराती है। हिंसा वैर-विरोध को अनन्तकाल के लिए बढ़ाती है। हिंसा एक ऐसा पाप है कि जिसके सानिध्य में संसार के सारे पाप परिपुष्ट होते हैं। पाप जीव का भयंकर शत्रु है। पाप इस जीव को भयंकर श्वभ्रसागर में (नरक में) ढकेल देता है। अतएव नरक से भयभीत रहने वाले भव्यजीवों को आरंभ का त्याग करना चाहिये। आरंभ का त्याग करने के लिए विविध प्रकार के व्रतों का अंगीकार करना आवश्यक है।

कर्मों का फल

जं जं दुक्खं जं जं परिभव जं जं च तिहुवणे रोयं।
तं तं पावइ जीवो पुव्व किये कम्मदोसेण ॥२३॥

अन्वयार्थ :-

(तिहुवणे) तीन भुवन में **(जं जं)** जो - जो **(दु:क्खं)** दु:ख **(परिभव)** अनादर **(रोयं)** रोग हैं **(तं तं)** वे-वे **(जीवो)** जीव को **(पुव्व)** पूर्व **(किये)** कृत **(कम्मदोसेण)** कर्म के दोष से **(पावइ)** प्राप्त होते हैं।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! अत्र संसारे पूर्वाशुभकर्मोदयात् यथा यथायं जीवो दु:खं प्राप्नोति तथा तथा दु:खं भुङ्क्ते। च पुनः पूर्वाशुभोदयात् भवसुखमग्नी भावादयं जीवः चतुर्गतिषु परिभ्रमणं करोति। कैः सह ? जन्मजरामरणरोगवियोगदारिद्रयादीनां दु:खैः सह। केन ? कुदेवपूजाभावं कृत्वा। कस्मात् ? पूर्वकर्मोदयात्।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! इस संसार में पूर्वबद्ध अशुभकर्म के उदय के वश जो-जो दु:ख यह जीव प्राप्त करता है तथा उसको भोगता है और पूर्व के अशुभकर्मों के उदय से भवसुख में मग्न होकर चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

शंका :- किसके साथ परिभ्रमण करता है ?

समाधान :- जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, वियोग, दरिद्रतादि के साथ परिभ्रमण करता है।

शंका :- किस कारण से दु:ख सहन करता है ?

समाधान :- कुदेव की पूजा करने के भाव से यह दु:ख सहता है।

शंका :- इस जीव के ऐसे भाव क्यों होते हैं।

समाधान :- पूर्व कर्मोदयवशात् ऐसे भाव होते हैं।

भावार्थ:-

जीव जैसे भाव करता है, उन भावों के अनुरूप कर्म आत्मा से बन्ध जाते हैं, आत्मा ने पूर्व में अशुभकर्म का उपार्जन किया था जिसके फल से ही वह बहुविध दुःखों को प्राप्त कर रहा है।

धर्म का फल

जं जं दुलहं जं जं सुंदर जं जं च तिहुवणे सारं।
तं तं धम्मफलेण य साहीणं तिहुयणं तस्स ॥३४॥

अन्वयार्थ :-

(जं जं) जो-जो **(दुलहं)** दुर्लभ **(जं जं)** जो-जो **(सुंदर)** सुन्दर **(च)** और **(जं जं)** जो-जो **(तिहुवणे)** त्रिलोक में **(सारं)** सारभूत है **(तं तं)** वह वह **(धम्मफलेण य)** धर्म के फल से हैं। धर्म से **(तस्स)** उस जीव के **(तिहुयणं)** त्रिलोक भी **(साहीणं)** स्वाधीन होते हैं।

संस्कृत टीका :-

हे जीव ! अत्र संसारेऽसौ जीवः धर्मं कृत्वा महादुर्लभं वस्तु प्राप्नोति। यानि यानि सारं सारीभूतवस्तुनि त्रिभुवनेषु धर्मोदयादयं जीवः प्राप्नोति। इदं किं ज्ञेयम्? धर्मस्य फलं ज्ञेयम्। पुनरयं जीवः धर्मोदयात् स्वाधीनपदं मोक्षपदं प्राप्नोति।

तथोक्तम् -

धर्मतः सकलमङ्गलावली,
धर्मतः सकलसौख्यसम्पदा।
धर्मतः स्फुरति निर्मलं यशो,
धर्म एव तद्वो विधीयताम् ॥

तथा च -

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये,
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा,
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥

टीकार्थ :-

हे जीव ! इस संसार में यह जीव धर्म करके महादुर्लभ वस्तु प्राप्त करता है। त्रिभुवन में जो-जो सारभूत (श्रेष्ठ) वस्तुयें हैं इस जीव को धर्म के कारण प्राप्त होती हैं। इसे क्या जानो ? धर्म का फल है ऐसा जानो। धर्म के कारण से यह जीव स्वाधीन पद यानि मोक्षपद को प्राप्त करता है।

कहा भी है -

धर्मतः सकलमङ्गलावली-

अर्थात् :- धर्म से सकल मंगल की प्राप्ति होती है। धर्म से ही सकल सौख्य की संपदा मिलती है। धर्म से ही चारों ओर निर्मल यश फैलता है। इसलिये हे जीव ! तुम्हें धर्म करना चाहिये।

और भी कहा है -

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये -

अर्थात् :- वन में, समरभूमि में, वायु में, जल में, अग्नि में, महासागर में, पर्वत के मस्तक पर, सुप्त, प्रमादयुक्त अथवा विषमस्थिति से युक्त जीव की रक्षा पूर्वकृत कर्म ही करते हैं।

भावार्थ :-

आगम का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि -

(१) सीता के लिये बनाया गया अग्निकुण्ड शीतल सरोवर बना।

(२) श्रीपाल सागर में तैरकर सुखरूप आ गया।

(३) सोमा ने महामन्त्र बोलकर घड़े में हाथ डाला तो सांप का हार बन गया।

(४) अंजना वन में परिभ्रमण कर रही थी तो विद्याधर ने अष्टापद के रूप में आकर उसे शेर से बचाया।

(५) पाण्डव लाख के महल से सुरक्षित निकल आये।

(६) द्रोपदी का भरी सभा में चीर बढ़ गया।

(७) सुदर्शन की शूली सिंहासन बन गई।

आदि-आदि।

इन सबसे मालूम पड़ता है कि धर्म की अचिन्त्य महिमा है। हर संकट में यह एक दृढ सम्बल है। धर्म आत्मा को संतुष्टि प्रदान करता है। धर्म दुःखों के नाश की अमोघ औषधि है। यह धर्म अमरपद प्रदान करने वाला होने से

परमामृत है। धर्म को करने के फलस्वरूप नर से नारायण अथवा तीतर से तीर्थंकर बनने की पात्रता प्राप्त होती है। संसार में ऐसा कोई सुख नहीं है कि जिसे धर्म न दे सकता हो।

अतएव सतत धर्म में मन लगाना चाहिये।

अज्ञानी को सम्बोधन

धम्मेण होइ सग्गं पावेण य होइ णरयवासम्मि।
जाणंतो वि अयाणय णरए मा खिपहि अप्पाणं ॥३५॥

अन्वयार्थ :-

(अयाणय) अज्ञानी **(धम्मेण)** धर्म से **(सग्गं)** स्वर्ग में वास **(होइ)** होता है **(पावेण य)** पाप से **(णरयवासम्मि)** नरक में वास होता है। **(जाणंतो वि)** ऐसा जानकर भी **(अप्पाणं)** आत्मा को (अपने को) **(णरए)** नरक में **(मा)** मत **(खिपहि)** डाल।

संस्कृत टीका :-

हे जीव! धर्मेण कृत्वा स्वर्गफलं प्राप्यते, पुनः पापेन कृत्वा नरकादिक दुःखं प्राप्यते, पुनः त्रिधा रत्नत्रयैः कृत्वा स्वात्मचिन्तनात्परस्वरूपाभावात् संकल्पविकल्परहितमक्षयामरमोक्षपदं प्राप्यते। रे मूढ जीव! अस्य संसारस्य स्वरूपमनित्यं ज्ञात्वा निजात्मानं नरके मा क्षिपतु। कस्मात्? विषय मोहलाम्पट्यात्।

टीकार्थ :-

हे जीव! धर्म करने से स्वर्ग फल की प्राप्ति होती है। पाप करने से नरकादि दुःख की प्राप्ति होती है। रत्नत्रय धारण करने से, स्वात्मचिन्तन के कारण, परस्वरूप का अभाव होने से, संकल्प-विकल्प रहित अक्षय-अमर मोक्षपद प्राप्त होता है। रे मूढ जीव! इस संसार के अनित्य स्वरूप को जानकर आत्मा को नरक में मत डाल। कैसे ? विषयमोह की लम्पटता से।

भावार्थ :-

परिणाम तीन प्रकार के हैं - शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ परिणामों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अशुभ परिणामों से नरकादि की महाभयंकर वेदनायें

रहती रहती हैं. शुद्धोपयोग से साक्षात् अजर अमर अविनाशी मोक्षपद की प्राप्ति होती है। जीव का परम कर्तव्य है कि वह अशुभोपयोग का सर्वथा त्याग करें। शुद्धोपयोग का लक्ष्य रखकर कार्य करें तथा जबतक उसकी प्राप्ति न हो, तबतक शुभोपयोग में अवस्थित रहे।

धर्माधर्म का फल

धम्मेण यसक्कित्ती धम्मेण य होइ तिहुवणे सुक्खं।
धम्मविहूणो मूढ य दुक्खं किं किं ण पाविहसि ॥२६॥

अन्वयार्थ :-

(धम्मेण) धर्म से **(यस)** यश **(कित्ती)** कीर्ति होती है। **(धम्मेण य)** धर्म से ही **(तिहुवणे)** त्रिभुवन में **(सुक्खं)** सुख **(होइ)** होता है **(धम्मविहूणो)** धर्म विहीन **(मूढ य)** मूर्ख **(किं किं)** कौन-कौनसे **(दुक्खं)** दुख **(ण पाविहसि)** प्राप्त नहीं करता है ?

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! अत्र संसारे जीवस्य धर्मेण कृत्वा निर्मला कीर्तिर्यशश्च भवति, पुनः धर्मेण कृत्वा त्रिभुवनमध्ये महत्सुखं प्राप्यते, पुनः धर्मेण कृत्वा स्वर्गमोक्षादिकं सुखं प्राप्यते चतुर्गतिषु।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! इस संसार में धर्म करने से जीव को कीर्ति व यश प्राप्त होता है। धर्म के कारण त्रिलोक में महासुख मिलता है। धर्म से स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म करने से चारों गतियों में सुख मिलता है।

भावार्थ :-

जैसे वायु के कारण फूल का सौरभ चतुर्दिक में फैल जाता है, वैसे धर्म के कारण मनुष्य का यश चारों ओर फैल जाता है। ऐसा कोई सुख संसार में नहीं है, जिसे धर्म के कारण नहीं पाया जा सकता। स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी इसी धर्म के कारण होती है, अतः प्रत्येक संसारी प्राणी को धर्म धारण करना चाहिये।

जो जीव धर्म से विमुख हैं, उन जीवों के जीवन में अनेक प्रकार के दुःख प्रवेश करते हैं। वे जीव दरिद्री, रोगों से ग्रस्त, कुपुत्रादि दुष्ट पारिवारिक

जनों की प्राप्ति से युक्त, इष्टसामग्री का अभाव आदि से सहित होते हैं। धर्मभावों के अभाव में परिणामों में रहने वाला तीव्र संक्लेश, अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों को उत्पन्न करता है। अतः जीव को अधर्म का परित्याग करना चाहिये।

धर्म से लौकिक सुख

धम्मेण य हुंति जया लच्छीसिरिमंगलं च णरतिरिया।
धम्मेण चत्तदेहा तस्स घरे पेसणं कुणहिं ॥३७॥

अन्वयार्थ :-

(धम्मेण य) धर्म से **(जया)** जय **(लच्छी)** लक्ष्मी **(सिरि)** श्री **(च)** और **(मंगलं)** मंगल **(हुंति)** होते हैं। **(णरतिरिया)** जो नर-नारी **(धम्मेण)** धर्म से **(चत्तदेहा)** रहित होते हैं **(तस्स)** उनके **(घरे)** घर में **(पेसणं)** प्रेषण **(कुणहिं)** करते हैं।

संस्कृत टीका :-

अहो जीव ! अत्र संसारेऽस्य जीवस्य जिनधर्मेण कृत्वा प्रचुरा जयश्री लक्ष्मीचक्र्यादिकविभूतयो भवन्ति। पुनः जिनधर्मेण कृत्वा वरगजाः वराश्वाश्च भवन्ति। पुनः संसारमध्ये ये नरनार्यादयः जिनधर्माद्रहिताः स्युः ते परगृहे प्रेषणं कुर्वन्ति। ये पञ्चपरमेष्ठिनां गुणरहिताः, ये च रत्नत्रयस्य गुणरहिता वर्तन्ते नराः, ते मूलधनरहिताः ग्रामे-ग्रामे शीतातापवर्षादीनां दुःखं भुञ्जानाः शिरसि स्थापितेनातिभारेण भग्नग्रीवाः सन्तः नीचलोकैः सह वाणिज्यं कृत्वास्तेङ्गते सूर्ये स्वगृहमागताः सन्तः विना शाकादि संयोगैरतिकष्टेन पुत्रकलत्रादीनां दुर्भरोदरपूरणं कुर्वन्ति। जन्मपर्यन्तं रोगैः पीडिता भवन्ति। पुनरतिप्रीतानामिष्टवस्त्रादीनां वियोगं सहन्ते। पुनः शतसहस्रछिद्रसहितासु त्रुटितासु स्फुटितासु पर्णशालासु निवसन्ति। उत्तम भाजनं न भवति। शतसहस्रखण्डवस्त्रं भवति। ते नरा यत्र गच्छन्ति तत्र दुर्भगत्वं प्राप्नुवन्ति। तेषां जिनधर्मस्य क्रियायाः क्व प्राप्तिः ? अपि तु न क्वापि। कस्मान्भवति ? कुगुरुकुदेवकुव्रतप्रसादाज्जिनधर्मरहितत्वाच्च।

उक्तश्च –

अदत्तदोषेण भवेद्दरिद्रो,
दारिद्र्यदोषेण करोति पापम्।
पापादवश्यं नरके पतन्ति,
पुनर्दरिद्राः पुनरेव पापाः ॥

तथा चोक्तम् –

चौरेभ्यो न भयं न दण्डपतनं त्रासो न पृथ्वीपते–
र्निःशङ्कं शयनं निशापि गमनं दुर्गेषु मार्गेषु च।
दारिद्र्यं बहुसौख्यकारि पुरुषा दुःखद्वयं स्यात्परे
ह्यायाताः स्वजनाश्च यान्ति विमुखा मुञ्चन्ति मित्राण्यपि ॥

अन्यच्चोक्तम् –

मधुपाने कुतः शौचं मांसभक्षी कुतोदया।
कामार्थिनां कुतो लज्जा धनहीने कुतः क्रिया ॥

टीकार्थ:–

अहो जीव ! इस संसार में धर्म करने से जीव को प्रचुर जय, लक्ष्मी, चक्रवर्ती आदि की विभूति प्राप्त होती है। जिनधर्म से उत्तम घोड़े, हाथियों की प्राप्ति होती है। जो नर–नारी धर्म से हीन हैं, वे दूसरों के घर में नौकरी करते हैं। जो पंच परमेष्ठियों के गुणों से (स्मरण से) रहित हैं और जो रत्नत्रय से रहित हैं, वे नर मूलधन से रहित होकर गाँव–गाँव में शीत, उष्ण व वर्षादि के दुःखों को भोगते हैं। माथे पर रखे हुए अतिभार से भग्नग्रीव होते हैं। नीच लोगों के साथ व्यापार करके सूर्यास्त के बाद घर आकर शंकादि से रहित अति कष्ट से अपने स्त्री, पुत्र का दुर्भरता से उदर पूर्ण करते हैं। जीवनपर्यन्त रोग सहित होते हैं। अतिप्रिय वस्त्रादिक के वियोग को सहते हैं। लाखों छिद्रों से युक्त टूटी–फूटी झोपड़ी में रहते हैं। उनके पास उत्तम बर्तन नहीं होते हैं। लाखों छिद्रों वाला वस्त्र उनके पास होता है। वे मानव जहाँ भी जाते हैं, वहाँ दुःखों को ही पाते हैं।

शंका – उन्हें जिनधर्म की प्राप्ति कब होगी ?

समाधान – नहीं होगी।

शंका – क्यों नहीं होगी ?

समाधान – कुगुरु, कुदेव, कुव्रत के प्रसाद से तथा जिनधर्म की रहितता से उन्हें जैनधर्म की प्राप्ति नहीं होगी।

कहा है –

अदत्तदोषेण –

अर्थात् :- दान न देने के दोष से जीव दरिद्र होता है, दरिद्रता के दोष से पाप करता है, पाप से नरक में गिरता है, वहाँ से निकलकर पुनः दरिद्री व पापी होता है।

और भी कहा है –

चौरेभ्यो न भयं न –

अर्थात् :- जिसमें चोरों का भय नहीं है, डंडे नहीं पडते, पृथ्वीपति का त्रास नहीं होता, निःशंक होकर सो सकते हैं, रात्रि में दुर्गम व कठिन मार्ग में भी गमन होता है, ऐसी दरिद्रता बड़ी सुखकारी है। किन्तु इसमें मात्र दो दुःख हैं – **(१)** स्वजन आकर वापस निकल जाते हैं। **(२)** मित्र साथ छोड देते हैं।

और भी कहा है –

मधुपाने कुतः –

अर्थात् :- मधुपायी में पवित्रता कहाँ से आयेगी ? मांसभक्षी में दया कहाँ ? कामार्थी को लज्जा कैसे होगी ? धनहीन के धर्म क्रिया कैसे होगी ?

भावार्थ :-

दासता एक विवशता है। वह क्यों करनी पडती है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार ने बडे ही सुन्दर ढंग से दिया है। वे लिखते हैं कि जो धर्मकार्य से हीन होते हैं, वे भृत्य होते हैं। दरिद्रता का सुन्दर विवेचन टीकाकार ने किया है। गरीबों का होता भी कौन है ? स्वजगत् उसके लिये पराया शहर है। सारे दुःखों ने मिलकर विचार किया कि हम कहाँ रहें ? अन्त में कोई स्वजन न दिखा तो वे गरीब की झोपडी में घुस गये। इसलिये ही सारे दुःख गरीबों को सहने पडते हैं।

एक कवि ने लिखा है कि –

हे दरिद्रते ! तुम्हें नमस्कार हो। तेरे प्रसाद से मैं सर्वसिद्धि को प्राप्त

कर चुका हूँ। मैं सारे जगत को देख सकता हूँ किन्तु मुझे दुनियाँ का कोई व्यक्ति नहीं देख सकता।

एक दरिद्रता ही करोड़ों गुणों को नष्ट कर देती है। यह दरिद्रता पूर्वोपार्जित पापकर्म से प्राप्त होती है। अतएव सुखेच्छु भव्य को पूर्ण तन्मयता से धर्म करना चाहिये।

पुनः धर्म का लौकिक फल

धम्मेण णरो सुहगो सुदंसणो सयललोयसुहजणणो।
लोएण पुज्जणिज्जो पणासणो सयलदुक्खाणां ॥२८॥

अन्वयार्थ :-

(धम्मेण) धर्म से **(णरो)** मानव **(सुहगो)** सुभग **(सुदंसणो)** सुन्दर **(सयललोय)** सब लोक में **(सुहजणणो)** शुभोत्पादक **(लोएण)** लोगों से **(पुज्जणिज्जो)** पूज्य **(सयल दुक्खाणां)** सकल दुःखों का **(पणासणो)** नाशक होता है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! पुनः जिनधर्मेण किं-किं भवति ? पुनः जिनधर्मेण कृत्वा समस्तत्रिलोकमध्ये यत्र-यत्र गच्छति तत्र-तत्र रूपेणातिमनोज्ञः दृश्यते, कामदेवो भवति, पुनः जिनधर्मेण कृत्वा स्वस्य परेषां चापि सुखमुत्पादयति, पुनः जिनधर्मेण कृत्वा त्रिलोकस्य लोकैरयं जीवः पूज्यते, पुनः जिनधर्मेण कृत्वायं जीव इहामुत्र च सकलस्य दुःखस्य विनाशको भवति, पुनः जिनधर्मेण कृत्वायं जीवोऽक्षयमन्तरहितं च सुखं प्राप्नोति।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! जिनधर्म से क्या-क्या होता है ? जिनधर्म के कारण जीव त्रैलोक्य में जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ रूप से मनोज्ञ होता है अर्थात् कामदेव होता है। पुनः उस धर्म से स्व और पर दोनों के लिये सुखोत्पादन होता है। जिनधर्म के करने के कारण यह जीव लोक-परलोक में समस्त दुःखों का विनाशक होता है तथा यह जीव धर्म के प्रसाद से ही अक्षय-अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ :-

जब धार्मिक व्यक्ति धर्म करने का फल प्राप्त करता है, तब वह सुन्दर, निरोगी, सर्वजनप्रिय, सुख का उपभोग करने वाला और दुःखों का विनाशक होता है। वह इहलोक और परलोक दोनों में ही सुखी होता है।

धर्म का स्वरूप

धम्मो दयाण मूलं विज्जाविणयं च उवसमो मुणिणा।
तं सयल परम बीयं कहियं जिणवरिंदेहिं ॥३१॥

अन्वयार्थ :-

(धम्मो) धर्म **(दयाण)** दया का **(मूलं)** मूल **(विज्जा)** विद्या **(च)** और **(विणयं)** विनय **(मुणिणा)** मुनि का **(उवसमो)** उपशम **(तं)** उसे **(सयल)** सकल **(परमं)** परम (उत्कृष्ट, श्रेष्ठ) **(बीयं)** बीज **(जिणवरिंदेहिं)** जिनेन्द्रदेव ने **(कहियं)** कहा है।

संस्कृत टीका :-

शिष्य आह – हे भगवन् ! कीदृशो धर्मः ? स आह – दयासहितो धर्मः। हिंसारहितो धर्मः, पुनः दशविधोत्तमक्षमादिलक्षणो धर्मः। निश्चयव्यवहार द्विधारत्नत्रयमयो धर्मः। पुनः परेषां यत्सुखं दीयते स धर्मः। परोपकारो धर्मः। पुनः कैः धर्म उत्पद्यते ? सिद्धान्ताध्ययनैः। सधर्मणां सह विनयैः। उपशमैः कषाय शान्तभावैः। एतैरुक्तैरष्टप्रकारैः धर्म उत्पद्यते। पुनः कीदृशो धर्मः ? मुनीनां योग्यः। ईदृशं लक्षणं धर्मस्य ज्ञातव्यम्। केन कथितम् ? जिनेन्द्रैः कथितम्।

टीकार्थ :-

शिष्य कहता है – हे भगवान ! धर्म कैसा है ?

वे कहते हैं –

(१) दयासहित धर्म है अर्थात् हिंसारहित धर्म है।

(२) उत्तमक्षमादि लक्षणरूप दशविध धर्म है।

(३) निश्चय व्यवहार ये दो प्रकार का रत्नत्रयधर्म है।

(४) जो दूसरों को सुख दे वह धर्म है।

(५) परोपकार धर्म है।

वह धर्म कैसे उत्पन्न होता है ?

(१) सिद्धान्त का अध्ययन करने से धर्म होता है।

(२) साधर्मियों का विनय करने से धर्म होता है।

(३) कषायों का उपशम करने से धर्म होता है।

उपर्युक्त आठ प्रकार से धर्म की उत्पत्ति होती है।

शंका :- यह धर्म किनके योग्य है ?

समाधान :- यह धर्म मुनियों के योग्य है।

धर्म के ऐसे लक्षण जानने चाहिये।

शंका :- यह लक्षण किसने कहे हैं ?

समाधान :- यह लक्षण जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये हैं।

भावार्थ :-

धर्म शब्द को आगम में अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। वे सारे लक्षण परस्पर में पूरक हैं। एक का कथन करने पर शेष सम्पूर्ण लक्षणों का कथन स्वयमेव ही हो जाता है।

उपर्युक्त टीका में आठ प्रकार का धर्म बताया है -

(१) अहिंसा धर्म है।

(२) विनय धर्म है।

(३) परोपकार धर्म है।

(४) स्वाध्याय धर्म है।

(५) उपशम धर्म है।

(६) जो उत्तम सुखदायक है वह धर्म है।

(७) रत्नत्रय धर्म है।

(८) दशलक्षण धर्म है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ में धर्म के स्वरूप को चार विभागों में प्रकट किया गया है। यथा -

धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दसविहो धम्मो।

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

अर्थात् :- **१- वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं।**

२- दशप्रकार के क्षमादि भावों को धर्म कहते हैं।

३- रत्नत्रय को धर्म कहते हैं।

४- जीवों की रक्षा को धर्म कहते हैं।

संक्षेपतः जो-जो आचरण आत्मविशुद्धि में कारण बनते हैं, वे-वे सब धर्माचरण हैं ऐसा जानना चाहिये।

धर्म, गुरु और देव का लक्षण

सो धम्मो जत्थ दया सो जोई जो ण पडइ संसारे।
सो देवो जरमरणहरो पणासणो सयलदुक्खाणं ॥४०॥

अन्वयार्थ :-

(जत्थ) जहाँ **(दया)** दया है **(सो)** वह **(धम्मो)** धर्म है। **(सो)** वह **(जोई)** योगी है **(जो)** जो **(संसारे)** संसार में **(पडइ)** पड़ता **(ण)** नहीं है। **(सो)** वह **(देवो)** देव है जो **(जरमरणहरो)** जरा व मरण को हरने वाला होता है और **(सयलदुक्खाणं)** जो सकल दुःखों का **(पणासणो)** विनाश करता है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! पुनरत्र संसारे कीदृशो धर्मः ? भगवानाह - यत्र षट्कायजीवानां रक्षणं क्रियते स धर्मो भण्यते। दया क्रियते स धर्मः, पुनः योगीश्वरः कः कथ्यते ? यो मुनिः स्वात्मपरयोः भेदं ज्ञात्वा, तत्त्वादिकं भेदं ज्ञात्वा, निश्चयरत्नत्रयं ध्यात्वा, पुनरपि संसारे न पतति। सांसारिक भोगवाञ्छां न करोति स योगीश्वरः कथ्यते। पुनः देवः कीदृशः कथ्यते ? यो देवः जन्मजरामरणं हरति स देवः, पुनः सकलदुःखविनाशको देवः कथ्यते। अपरश्च कुदेवः कथ्यते।

टीकार्थ :-

हे शिष्य! इस संसार में वह धर्म कैसा है ? भगवान कहते हैं कि - जहाँ षट्काय जीवों का रक्षण किया जाता है, वह धर्म कहा जाता है। दया करना धर्म है।

योगीश्वर किसे कहते हैं ? जो मुनि स्व-पर का भेद जानकर, तत्त्वादिक का भेद जानकर निश्चयरत्नत्रय को ध्याकर पुनः संसार में नहीं आते हैं। सांसारिक भोगों की जिनके वांछा नहीं हैं, वे मुनिराज योगीश्वर

कहलाते हैं।

देव कौन कहलाते हैं ? जो जन्म,जरा और मरण का हरण कर लेते हैं, वे देव हैं। सकलदुःखों के विनाशक को देव कहते हैं। इसके अतिरिक्त सब कुदेव कहलाते हैं।

भावार्थ :-

आराधक को आराधना करने से पहले आराध्य, आराधना में कारण आदि अनेक बातों पर विचार कर लेना चाहिये। आराध्यभूत जो शुद्धात्मा है - उसमें सहकारी कारणभूत देव, गुरु और धर्म है।

इन्हीं तीनों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। **यथा -**

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।

णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥

(मोक्षपाहुड -९०)

अर्थ :- हिंसारहित धर्म, अट्ठारह दोषविवर्जित देव व निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है।

धर्म का लक्षण क्या है ? जो द्रव्यहिंसा और भावहिंसा से रहित हो, जो सम्पूर्ण जीवों का उद्धार करता हो वह धर्म है। जो मानव को मानव के साथ मानवीय व्यवहार करने की शिक्षा देता हो वह धर्म है। जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ाकर शाश्वत मोक्षसुख में ले जाकर विराजमान कर देवे वह धर्म है। समस्त उदार भावनाओं का नाम धर्म है।

गुरु कैसे होते हैं ? जो आत्मसाधना में तल्लीन रहते हैं, जिनकी हर चर्या जीवजगत का उद्धार करने वाली होती है, जिनका पवित्र आचरण विश्व के समस्त जीवों के लिए आदर्श होता है और जिनका समग्र जीवन स्व-पर कल्याण में समर्पित होता है, वे निर्ग्रन्थ तपस्वी गुरु कहलाते हैं।

देव का लक्षण क्या है ? जिन्होंने राग, द्वेष, मोहादि समस्त आत्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लिया है, जो चराचर में स्थित सम्पूर्ण द्रव्यों को उनके गुण और पर्यायों के साथ युगपत् जानते हैं और जो संसार के समस्त जीवों को मोक्षमार्ग का पथ दिखलाते हैं उन्हें देव कहते हैं।

देव, गुरु और धर्म का समीचीन लक्षण जानकर उनपर श्रद्धान करनी चाहिये। इन तीनों पर श्रद्धान करने वाला जीव संसार के महासागर में पतीत

नहीं होता, संयम की ओर उसकी लगन रहती है , मोक्ष जाने के लिये उसके मन में छटपटाहट रहती है और निरन्तर अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ वह जीव संवेग भावों से युक्त हो जाता है। इन समस्त कारणों से उस जीव का मन आराधना में दृढ होता है।

संसार में व्यर्थ क्या है ?

किं धम्मे दयरहिए संजमरहियेण किं किय तवेण ।
किं धणरहिये भवणे किं विहवे दाणहीणेण ।। ४१।।

अन्वयार्थ :-

(दयरहिए) दयारहित **(धम्मे)** धर्म से **(किं)** क्या ? **(संजमरहियेण)** संयमरहित **(किं किय तवेण)** तप करने से **(किं)** क्या ? (लाभ) **(धणरहिये)** धनरहित **(भवणे)** भवन से **(किं ?)** क्या (लाभ) **(दाणहीणेण)** दानहीन **(विहवे)** वैभव से **(किं ?)** क्या ? (लाभ है।)

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! यस्मिन् धर्मे दया नास्ति तेन धर्मेण किं प्रयोजनम् ? यस्मिन् तपसि संयमो नास्ति-षट्कायिक जीव हिंसापरिहारः षडिन्द्रिय वशीकरणं च नास्ति तेन कृतेन तपसा किं प्रयोजनम् ? यस्य गृहस्थस्य भवने लक्ष्मीः नास्ति तस्य तेन भवनेन किं प्रयोजनम् ? पुनः दानपूजादिकं विना विभवेन लक्ष्म्या किं क्रियते ? न किञ्चित् ।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! जिस धर्म में दया नहीं है उस धर्म से क्या प्रयोजन है ?

जिस तप में संयम नहीं है, षट्कायिक जीवों की हिंसा का परिहार और षडिन्द्रिय वशीकरण नहीं है, उस तप से क्या प्रयोजन है ?

जिस गृहस्थ के भवन में लक्ष्मी अर्थात् धन नहीं है उस भवन से क्या प्रयोजन है ?

दान, पूजा आदि कार्यों के बिना लक्ष्मी का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं।

भावार्थ :-

धम्मस्य मूलं दया धर्म का मूल दया है। अतएव जिस धर्म में दया नहीं है वह धर्म कार्यकारी नहीं है।

संयम के दो भेद हैं - इन्द्रियसंयम व प्राणीसंयम। पाँच इन्द्रिय व मन को वश में करना इन्द्रियसंयम है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक व त्रस जीवों की विराधना न करना प्राणीसंयम है। दोनों प्रकार के संयम से रहित तप विधवा के श्रृंगार की भाँति निष्प्रयोजनीय है। वैभवसम्पन्न होकर भी जो दान नहीं देते उनका वैभव बकरी के गले में लटके हुए स्तनों की तरह हैं।

आचार्यों ने कहा है कि जिस गृहस्थ के पास कौड़ी नहीं वह कौड़ी का है व जिस यति के पास कौडी भी है व कौड़ी के बराबर है। अर्थात् गृहस्थ धनहीन हो तो उससे क्या लाभ ? धन तो है, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं है तो उस धन में और मिट्टी में क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है।

सज्जनचित्तवल्लभ के अनुवाद में मैंने स्पष्ट किया है कि -

जिनके पास प्रचुरमात्रा में सम्पदा है, परन्तु उसका उपयोग धर्मकार्य और पात्रदान के लिए नहीं होता है, उनके पास धन का होना या नहीं होना समान ही है। पूर्वकृत् पुण्यकर्म का उदय होने पर धन का लाभ होता है। धन एक साधन है। उसके द्वारा पुण्य अथवा पाप का अर्जन किया जा सकता है। विषयभोगों के लिए व्यय हुआ धन पापों का सृजक है और धर्मकार्य तथा पात्रदान में लगा हुआ धन पुण्यरूपी कल्पवृक्ष की वृद्धि करता है। इस संसार में धन को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। जिनके पास धन हो, उनमें दान की भावना उत्पन्न होना उससे भी कठिन है। दान करने की इच्छा हो और सत्पात्र का समागम हो जावे यह संयोग तो महादुर्लभ है। जिन जीवों को ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं और फिर भी वे दानधर्म में प्रवृत्ति न करें तो उनका धन व्यर्थ ही है।

धन का सदुपयोग दान के व्दारा होता है। श्रावकों के व्दारा दिया जाने वाला दान केवल दाता के ही नहीं, अपितु पात्र के भी धर्मसाधना में सहयोगी होता है क्योंकि शेष आवश्यकों के व्दारा केवल आवश्यकपालक का हित होता है परन्तु दान को प्राप्त करने के उपरान्त लोभादि कषायों की

मन्दता हो जाने से दाता का हित होता है और पात्र भी अपनी आवश्यक व्यवस्था को प्राप्त करने से निर्विकल्प होकर धर्म-शुक्लध्यान करते हैं। इससे पात्र का भी हित होता है। इसीलिए आचार्यों ने इसे श्रावकों का सर्वोत्तम कर्त्तव्य कहा है।

इसलिए वैभवसम्पन्न श्रावकों को दान अवश्य ही देना चाहिये।

द्रव्य का लाभ क्यों नहीं होता ?

अत्थस्य करणादो कीरइ अहियं पि अइमहापावं ।
अत्थो ण होइ तहविहु पुव्वं किय कम्मदोसेण ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ :-

(अत्थस्य) धन के **(करणादो)** कारण से **(अइमहापावं)** अति महापाप **(अहियं)** अधिक **(कीरइ)** करता है **(पि)** फिर भी **(पुव्वं)** पूर्व **(किय कम्म दोसेण)** में किये गये कर्म के दोष से **(तह वि हु)** उसे **(अत्थो)** द्रव्य **(ण)** नहीं (प्राप्त) **(होइ)** होता।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! अत्र संसारेऽयं जीवः लक्ष्मीहेतोर्धनार्थं महत्प्रचुरं पापं करोति। अतीव तीव्रपापं करोति। केन ? व्यापारेण कृत्वायोग्यकर्मणा कृत्वा। कस्मात्? प्रबलमोहवशात्। यद्यपि धनार्थमतीव तीव्रपापं करोति, तदप्ययं जीवः धनं न प्राप्नोति। यत् पूर्वभवोपार्जितं शुभाशुभं कर्म, तस्यैव कर्मणः शुभाशुभं फलमनेन जीवेन प्राप्यते। पूर्वभवोपार्जितेन पुण्यकर्मणा विनास्य जीवस्य मनुष्यो वा व्यन्तरो कश्चिद्देवो वा तिर्यग्वा शुभाशुभं सुख-दुःख न ददाति। अन्यः कोऽपि सुखं दुःखं न वा ददाति तर्हास्य जीवस्य स्वोपार्जितं शुभाशुभं क्व तत्र गतम्, इति मत्वाज्ञानिनो जीवा मिथ्यात्ववशात् कुदेवरक्ताः पाखण्डिनो मनुष्या एवेवं वदन्ति। किम् ? तन्त्रमन्त्रादि भिरौषधिवशीकरणकौटिल्यादिभिः चण्डीशीतलादिभिः पूजाभिरभीष्टसिद्धिः भवति, एवमसत्यं वदन्ति।

टीकार्थ :-

हे शिष्य! इस संसार में यह जीव लक्ष्मी के प्राप्ति हेतु बड़ा पाप करता है। कैसे ? व्यापार करके, अयोग्य कर्म करके। क्यों ? प्रबल मोह के वशात्।

यद्यपि धनार्थी अति तीव्र पाप करता है फिर भी यह जीव धन नहीं पाता। जो पूर्व भव में उपार्जित किये शुभाशुभ कर्म, उस कर्म से ही शुभाशुभ फल की प्राप्ति इस जीव को होती है। पूर्वभवोपार्जित पुण्यकर्म के उदय के बिना इस जीव को मनुष्य, व्यन्तर वा कोई देव शुभाशुभ फल नहीं दे सकता। अन्य कोई भी सुख नहीं देता है फिर भी इस जीव का स्वोपार्जित शुभाशुभ कर्म क्या वहाँ जाता है ? ऐसा मानकर अज्ञानी जीव मिथ्यात्ववशात् कुदेवों में अनुरक्त होता है। पाखण्डीलोग ही ऐसा कहते हैं।

शंका – क्या कहते हैं ?

समाधान– तन्त्र-मन्त्रादिक से, औषधि-वशीकरण-कौटिल्यादिक से चण्डिका, शीतलादिक की पूजा से इष्टसिद्धि होती है – ऐसा वे असत्य कहते हैं।

भावार्थ:–

जीव को पहले यह सिद्धान्त ध्यान में रख लेना चाहिये कि–

जो कुछ हमने शुभाशुभ कर्म उपार्जित किये हैं, उनके अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। क्योंकि –

बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से होय।

यदि दूसरा कोई फल देने लग जाये तो फिर स्वयं के किये हुए कर्म व्यर्थ हो जायेंगे।

इस सिद्धान्त से अनभिज्ञ मूढ़ात्मा, चण्डिका, शीतलादि देवियों की पूजा करने से अभिष्टसिद्धि होती है ऐसा मानते हैं। मन्त्र, तन्त्र, कौटिल्य औषधि आदि का सहारा लेकर जीव धनवान बनना चाहता है। नानाविध हिंसाजनक व्यापारों के द्वारा वह महापापों को उपार्जित करता है। वह मूढ यह नहीं जानता कि वह मात्र धन की अभिलाषा का कर्ता है न कि धन का। धन की प्राप्ति उसके लिए संभव नहीं है। यदि शुभकर्म का उदय हो तो अनायास धन की प्राप्ति होगी ! अन्यथा चाहे जितने प्रयास कर ले, वे पत्थर पर बीज बोने के समान कार्य कर रहे हैं।

शंका :– देवों में अणिमादि ऋद्धियाँ होती हैं। उनके द्वारा वे परोपकारादि कार्य कर सकते हैं। फिर वे धनादि नहीं दे सकते हैं ऐसा क्यों कहते हो ?

समाधान :– देव ऋद्धियों के माध्यम से परोपकार करने में समर्थ होते हैं। परन्तु वे उन जीवों का हित नहीं कर सकते जिन जीवों का पुण्यकर्म का उदय

न हो। जिन जीवों का पापकर्म उदय में होता है, उन जीवों का हित करने की शक्ति किसी भी देवी या देवता में नहीं होती। परनिमित्त केवल बाहर से सहयोगी हो सकते हैं। बाह्यनिमित्त भी तभी कार्य कर सकते हैं, जब उपादान और आभ्यन्तर कारण भी अनुकूल हो। इसलिए देवता धनादि नहीं दे सकते ऐसा कहा जाता है।

शुभाशुभ फल

जं जं विहियं जं जं सुविहं तं तं च पावए जीवो।
अविहो पुणो विमूढय सविणे वि ण दंसणं देइ ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ :-

(जं जं) जो-जो **(विहियं)** बुरा **(च)** और **(जं जं)** जो-जो**(सुविहं)** अच्छा है **(तं तं)** वह-वह **(जीवो)** जीव **(पावए)** पाता है **(विमूढय)** हे मूढ! **(अविहो)** विपरीत **(पुणो)** और **(सविणे वि)** स्वप्न में भी **(ण)** नहीं **(दंसणं)** दिखाई **(देह)** देता है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य! अत्र संसारेऽनेन जीवेन पूर्वभवे यद्यत् समुपार्जितं कर्मणा विहितं-निर्मापितं च तत्तत् शुभाशुभं फलं प्राप्यते। इति मत्वा रे मूढ जीव! यदि त्वया स्वोपार्जित सकाशात् किञ्चिध्दीनं वृद्धं वा सुखं दुःखं न प्राप्यते तर्हि त्वं तृष्णाशा-शङ्कादिभिर्मिथ्यात्वैः कृत्वा तीव्रपापकर्म वृथा बध्नाति। अपरम्, अरे जीव! स्वोपार्जितमेव सुखं दुःखं संसारेऽयं संसारी जीवः प्राप्नोति। विपरीतं रात्रौ स्वप्नेऽपि न पश्यति।

टीकार्थ :-

हे शिष्य। इस संसार में इस जीव ने पूर्व भव में जो-जो कर्म उपार्जित किये उस कर्म के शुभ व अशुभ फल को वह प्राप्त करता है। ऐसा जानकर हे मूढ जीव! यदि तेरे द्वारा उपार्जित कर्म में हीन वा अधिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता, फिर भी तू तृष्णा, आशंकादि मिथ्यात्व के द्वारा व्यर्थ ही तीव्र पापकर्म बांधता है। अरे जीव! निज के द्वारा उपार्जित सुख व दुख ही इस संसार में यह जीव प्राप्त करता है। विपरीतरूप फल रात्रि के स्वप्न में भी नहीं देखता।

भावार्थ:-

जैसा करेगा वैसा भरेगा यह लोक में सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस जीव ने जैसा कर्म पूर्वभव में उपार्जित किया है, यहाँ वह उसी के फल को प्राप्त करता है, अन्य को नहीं। आत्मा के कल्याण को चाहने वाले भव्यजीवों को तृष्णा, आशंकादि व मिथ्यात्वादि के द्वारा व्यर्थ में पापकर्म को बांधना उचित नहीं है।

कृतकर्म का फल अवश्य मिलता है

जइ गाहियहि मयरहरं पव्वइ आरुहहि जइ वि लोहेण।
तहय तहं वि य माणजं विहियं तं समावइए ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ :-

(जइ) यदि **(मयरहरं)** सागर में **(गाहियहि)** अवगाहन **(पव्वइ वि)** पर्वत पर भी **(लोहेण)** लोभ से **(आरुहहि)** आरोहण करेगा **(तह य)** फिर भी **(तं)** तू **(तहं वि य माणजं)** तन्मात्र में ही **(विहियं)** बुरा **(समावइए)** पायेगा।

संस्कृत टीका :-

अरे अतिमोही जीव ! कदाचित्त्वं समुद्रमवगाहसे। केन ? अत्युद्यमेन। पुनस्त्वं पर्वतशिखरेऽप्यारोहणं करोषि तदपि विहितं स्वकर्मोपार्जितं सुखदुःखं तन्मात्रं त्वं प्राप्नोषि। न हीनं न चापि वृद्धम्।

टीकार्थ :-

अरे मोही जीव ! कदाचित् तू समुद्र में अवगाहन करेगा। कैसे ? अति उद्यम से। फिर तू पर्वत के शिखर पर आरोहण करेगा, फिर भी तू निजोपार्जित सुख-दुःख उसी तरह प्राप्त करेगा - न हीन प्राप्त होगा, न अधिक।

भावार्थ:-

उद्यमवन्त पुरुष को यहाँ समझाया गया है कि, रे मूढ ! कर्म में फेर बदल कर पाना असंभव है। तुम चाहे जितने प्रयत्न करलो, तुम्हें कृतकर्म का फल भोगना ही पड़ेगा।

शंका- तो क्या पुरुषार्थ करना व्यर्थ है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि वह कर्म के स्थिति का अपसरण करता है, अनुभाग

को मन्द करता है अथवा कर्मों का संक्रमण कराता है। यत्नाचारपूर्वक किया गया सम्यक् पुरुषार्थ भावी विपत्तियों से बचाकर जीव को सुखी बनाता है। इतना ही नहीं अपितु कर्मनिर्जरा के लिए पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है। अतएव पुरुषार्थ करना व्यर्थ नहीं है। कृतकर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, यह बात सामान्य कथन है ऐसा जानना चाहिये। उत्सर्ग कथन की अपेक्षा से कर्मों को भोगे बिना भी नष्ट किया जा सकता है।

जैसी करनी वैसी भरनी

इय जाणऊण हियए अणुदिणु संता वि मूढ अप्पाणं।
जं विहियं तं लब्भइ जम्मे वि ण अण्णहा होइ ॥४५॥

अन्वयार्थ :-

(मूढ) मूर्ख **(इय)** ऐसा **(जाणऊण)** जानकर **(हियए)** हृदय में **(अणुदिणु वि)** रात दिन **(अप्पाणं)** आत्मा को **(संता)** संताप दे (मत) **(जं)** जो **(विहियं)** विधि में है **(तं)** वह **(लब्भइ)** मिलेगा **(जम्मे वि)** जन्मभर में भी **(अण्णहा)** अन्यथा **(ण)** नहीं **(होइ)** होता है।

संस्कृत टीका :-

रे जीव ! इति मत्वा ज्ञात्वा स्वहृदये जिनवचनं निश्चलं कुरु। रे बहिरात्मन्! रे मूढ ! अणुदिणु-अहर्निशं स्वात्मानं मा सन्तापय। कैः ? आर्त्तरौद्रादिभिः स्वात्मानं दुर्गतिं मा क्षिपतु। यत्किञ्चित् विहियं कर्मोपार्जितं पूर्वभवोपार्जितं तत्प्राप्यते। कदाचिदाजन्म-जन्मपर्यन्तं प्रचुराशातृष्णादिभिः पापं मिथ्यात्वं करोषि तदप्यन्यथा न भवति।

टीकार्थ:-

रे जीव ! ऐसा जानकर निज हृदय में जिनवचन को निश्चल करो। रे बहिरात्मन् ! रे मूढ ! रात-दिन आत्मा को सन्ताप मत दे।

शंका- किसके द्वारा ?

समाधान- आर्त्त-रौद्रादिक के द्वारा आत्मा को दुर्गति में मत डाल।

जो कुछ कर्म पूर्व में उपार्जित किया हुआ है, वही तुझे प्राप्त होगा।

कदाचित् आजन्म प्रचुर आशा व तृष्णा से पाप करेगा, फिर भी वह अन्यथा नहीं होगा।

भावार्थ:-

रे जीव ! कर्म तुझे फल देंगे ही ऐसा जानकर तू निश्चल हो। क्यों नाहक ही आत्मा को सन्ताप दे रहे हो ? तृष्णा व आशा की बहुलता के वशात् भले ही तू चाहे जो प्रयत्न कर ले, फिर भी तुझे कुछ नहीं मिलता है।

इच्छित फलप्राप्ति का उपाय

धम्मं करेहि पूयहि जिणवर थुइ करेइ जिणचरणे।
सच्चं धरेहि हियए जं इच्छइ तं समावडए ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ :-

(धम्मं) धर्म **(करेहि)** कर **(जिणवर)** जिनेन्द्र की **(पूयहि)** पूजा कर **(जिण चरणे)** जिन चरणों की **(थुइ)** स्तुति **(करेइ)** कर **(हियए)** हृदय में **(सच्चं)** सत्य को **(धरेहि)** धार **(जं)** जो **(इच्छइ)** चाहता है **(तं)** वह **(समावडए)** मिलेगा।

संस्कृत टीका :-

हे जीव ! यदि त्वं मनोवाञ्छितं फलमिच्छसि तर्हि जिनधर्मं निर्मलं कुरु। लोकमूढतां मुक्त्वा मिथ्यात्वं त्यक्त्वा देवाधिदेवं ज्ञात्वा जिनधर्मं कुरु, पुनः जिनार्चनं कुरु। वित्तानुसारः जिनेन्द्रस्य गुणान् ज्ञात्वा जिनार्चनं कुरु। इन्द्रियादिक सुखस्य वाञ्छां विहाय जिनार्चां कुरु, पुनः गद्यपद्यात्मिकां स्तुतिं कुरु। क्व ? जिनेन्द्रचरणे। सत्यवचनं जिनमार्गं स्वहृदये धरेहि धर, पुनः सम्यक्त्वेन सह द्वादश व्रतानि पालय। कस्मात् ? यतः इहामुत्र च भोगाः स्वयमेव विनायासेन त्वं प्राप्नोषि।

टीकार्थ :-

हे जीव ! यदि तू मनोवांछित फल चाहता है तो निर्मल जिनधर्म धार ले। लोकमूढता को छोडकर, मिथ्यात्व को त्यागकर, देवाधिदेव को जानकर जिन धर्म कर। जिनार्चना कर। जिनेन्द्र के गुणों को जानकर धन के अनुसार (शक्ति के अनुसार) जिनार्चन कर। इन्द्रियादिक के सुखों की वांछा को छोडकर

जिनार्चना कर। गद्य-पद्यमय स्तुति कर।

शंका - कहाँ ?

समाधान - जिनेन्द्र के चरण में।

सत्यवचनरूप जिनमार्ग को अपने हृदय में धारण कर। सम्यक्त्व सहित बारह व्रतों का पालन कर।

शंका - क्यों?

समाधान - जिससे इह-परलोक के समस्त भोग स्वयमेव ही तू प्राप्त करेगा।

भावार्थः-

देवदर्शन एवं उनका स्तवन मुनि और श्रावकधर्म का आवश्यक कर्त्तव्य है। देवदर्शन की महिमा अचिन्त्य है। देवदर्शन सम्यग्दर्शन का आद्य कारण है। देवदर्शन के कारण परिणामों में इतनी निर्मलता आ जाती है कि क्षणार्द्ध में ही निधत्ति और निकाचित जैसे पापकर्म नष्ट हो जाते हैं।

जिनेन्द्रदेव के दर्शन कर लेने के उपरान्त सन्तुष्टमना हुए भक्तों के मन से निकलने वाले उद्गारों को प्रकट करते हुए आचार्य श्री गुणनन्दि जी महाराज लिखते हैं कि

अद्य संसारगम्भीरपारावारः सुदुस्तरः।
सुतरोऽयं क्षणेनैव, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥
अद्य मे क्षालितं गात्रं, नेत्रे च विमलीकृते।
स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु , जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥

अर्थात् :- यह संसारसागर अपार, गंभीर और सुदुस्तर है। हे जिनेन्द्र! आपके दर्शनों से उसे सुगमतापूर्वक तीरा जा सकता है।

आज मेरा तन पवित्र हो गया, नेत्र निर्मल हो गये। हे जिनेन्द्र! आपके दर्शनों से आज मैं धर्मतीर्थ में स्नान कर चुका हूँ।

जिनेन्द्रप्रभु की वन्दना करने से मिलने वाले फल के विषय में आचार्य श्री पूज्यपाद जी ने लिखा है कि

जन्म-जन्म कृतं पापं, जन्मकोटिसमार्जितम्।
जन्ममृत्युजरामूलं, हन्यते जिनवन्दनात्॥

(समाधिभक्ति - ५)

अर्थात् :- कोटि जन्म में उपार्जित किये गये पाप जिनेन्द्र के दर्शन मात्र से

पलायन कर जाते हैं।

जब दर्शनमात्र का यह फल है तो पूजा और स्तुति आदि का क्या फल होगा? जिनदेव अचिन्त्य महिमावान हैं, ऐसा जानकर मुमुक्षु को चाहिये कि वह इन्द्रियसुखों की तुच्छाभिलाषा को छोडकर जिनार्चना करें, जिससे अनायास ही सब कुछ मिल जायेगा। बात तो सच भी है कि वृक्ष के पास जाकर छाया क्या मांगना ? वह तो स्वयमेव ही मिल जायेगी। अतः प्रतिदिन जिनदर्शन और जिनपूजन करना चाहिये।

मेरी भावना

संपज्जइ सामि जिणं संजमसहियं च होउ गुरु णिच्चं।
साहम्मि जणसणेहो भवि-भवि मज्झं सयं पडिउ ॥४७॥

अन्वयार्थ :-

(भवि-भवि) भव-भव में **(मज्झं)** मुझे **(सयं)** स्वयं **(जिणं)** जिनेन्द्र **(सामि)** स्वामी **(संपज्जइ)** मिले **(संजमसहियं)** संयमसहित **(गुरु)** गुरु **(च)** और **(साहम्मि)** साधर्मी **(जण)** जन का **(णिच्चं)** नित्य **(सणेहो)** स्नेह **(पडिउ)** प्राप्त **(होउ)** होओ।

संस्कृत टीका :-

कविः जिनेन्द्राग्रे कथयति - हे स्वामिन् ! मम जिनेन्द्रस्य गुणानां संपद्भवतु। पुनः संयमेन सह सद्गुरोः सङ्गमो भवतु। पुनः सधर्मणा सह धर्मानुरागेण स्नेहो भवतु। क्व ? इहामुत्र भवे-भवे भवतु।

टीकार्थ :-

कवि जिनेन्द्र भगवान के आगे कहता है, हे स्वामिन् ! मुझे जिनेन्द्र के गुणों की प्राप्ति हो। संयमसहित सद्गुरु का संगम हो, सहधर्मियों के साथ धर्मानुराग से स्नेह हो।

शंका - कब ?

समाधान - इहलोक में और परलोक में अर्थात् भव-भव में प्राप्त हो।

भावार्थ :-

कवि ने जिनेन्द्रप्रभु के समक्ष तीन बातों की याचना की है। यथा-

(१) भव-भव में जिनेन्द्र भगवान ही मेरे स्वामी हो।

(२) संयमसहित गुरु मुझे भव-भव में मिलें।

(३) धर्मानुराग के कारण अर्थात् निःस्वार्थ साधर्मीस्नेही मुझे भव-भव में मिलते रहें।

ये तीन सद्गुण ही मनुष्य को इस भव में तथा परभव में आदर के और सौख्य के पात्र बनाते हैं।

जिनेन्द्रप्रार्थना

जिणणाह लोयपुज्जिय मग्गमि थोवं पि जइ पसण्णोसि।
अंते समाहिमरणं चउगइदुक्खं णिवारेहि ॥४८॥

अन्वयार्थ :-

(जिणणाह) जिननाथ **(लोयपुज्जिय)** लोकपूज्य **(थोवं पि)** कुछ **(मग्गमि)** मार्ग में **(जइ)** यदि **(पसण्णोसि)** आप प्रसन्न हो **(अंते)** अन्त में **(समाहिमरणं)** समाधिमरण को (तथा) **(चउगइदुक्खं)** चतुर्गति के दुःखों का **(णिवारेहि)** निवारण करो

संस्कृत टीका :-

कविः प्रार्थनां करोति, हे जिननाथ! हे त्रिदशेन्द्रादीनां पूज्य! यदि मयास्मिन् लोके त्वं पूजितोऽसि तर्हि किंचित् स्तोकमहं याचे प्रार्थयामि। किं प्रार्थयामि? अन्तकालेऽवसानकाले स्वात्मभावेन संन्यासेन रत्नत्रयगुणैः सह समाधिना मरणं भवतु, पुनः चतुर्गतीनां दुःखं दूरी कुरु, अमरपदं ददातु।

टीकार्थ :-

कवि प्रार्थना करते हैं कि हे जिननाथ! त्रिदशेन्द्रपूज्य! यदि मेरे से इस लोक में तेरी पूजा हुई है, तब मैं थोड़ी याचना करता हूँ।

शंका -क्या प्रार्थना करता हूँ?

समाधान :-अनन्तकाल में स्वात्मभावना से युक्त रत्नत्रय गुणसहित समाधि

मरण हो। आप मेरे चतुर्गति विषयक दुःख दूर करके अमर पद दो।

भावार्थः-

भक्त सांसारिक कामनाओं को मन में स्थान नहीं देता। उसका लक्ष सदैव पारलौकिक ही होता है।

यहाँ भक्त कवि कहते हैं कि हे भगवन्! तुम यदि मेरी पूजा से प्रसन्न हो गये हो तो मात्र मुझे -

(१) समाधिमरण युक्त मरण दो।

(२) चतुर्गति के इन दुःखों से मुझे दूर कर दो अर्थात् मुझे अमरपद (मोक्ष) **दो।**

धन्य कौन ?

ते धण्णा ते धणिणो ते पुण जीवंति माणुसे लोए।
सम्मत्तं जाहि थिरं भत्ती जिणसासणे णिच्चं ॥४९॥

अन्वयार्थ :-

(लोए) लोक में **(ते)** वे **(धण्णा)** धन्य हैं **(ते)** वे **(माणुसे)** मनुष्य **(धणिणो)** धनवान हैं **(पुण)** और **(ते)** वे **(जीवंति)** जीवित है **(जाहि)** जिन में **(थिरं)** स्थिर **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व और **(णिच्चं)** नित्य **(जिणसासणे)** जिन शासन में **(भत्ती)** भक्ति है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य! ते मनुष्या नरनार्यादयोऽत्र संसारे धन्याः, पुनः ते धनिनो मनुष्याः ज्ञेया, पुनः ते जीवन्ति जीविताः सन्ति। ते के? ये मनुष्या अत्र संसारेऽस्मिन् लोकमध्ये मानुषजन्मं प्राप्य श्रावककुलं च प्राप्य दृढीभूतं स्थिरीभूतं निश्चलीभूतं श्रद्धा रुचिं कृत्वेदृग्विधं सम्यक्त्वं पालितवन्तः, पालयन्ति, पालयिष्यन्ति च, पुनः ते नराः धन्याः ज्ञातव्याः। पुनः कीदृशाः धन्याः? ये नरा नित्यं निरन्तरं जिन - शासनमध्ये चतुर्विधसंघमध्ये, आर्यार्यिकाश्रावकश्राविकामध्ये यः कोऽपि धर्मधुरन्धरो भवति, तस्य धार्मिकस्य धर्मानुरागेण कपटं मुक्त्वा भक्तिं कुर्वन्ति, तं दृष्ट्वा हर्षं कुर्वन्ति ते धन्या ज्ञातव्या, पुनः जिनशासनमध्ये जिनेन्द्रस्य गुणाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, दशलक्षण धर्माः, षोडशभावना इत्यादिलक्षणा

ज्ञातव्या। इत्थं सम्यक्त्वं ये पालयन्ति ते धन्याः ज्ञातव्या।

टीकार्थ :-

हे शिष्य ! वे नर-नारी इस संसार में धन्य हैं, वे ही मनुष्य धनवान हैं, ऐसा जानना चाहिये। वे ही जीवित हैं।

शंका - वे कौन हैं ?

समाधान- जो मनुष्य इस संसार में मनुष्यजन्म को प्राप्त कर और श्रावककुल को प्राप्त कर दृढ होकर श्रद्धा करके सम्यक्त्व पालते हैं, पाल रहे हैं या पालेंगे, वे नर धन्य हैं।

शंका- वे धन्य कैसे हैं ?

समाधान- जो नर नित्य निरन्तर जिनशासन में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ में कोई धर्मधुरन्धर होता है। धार्मिक की धर्मानुराग से कपट त्याग कर भक्ति करते हैं, उनको देखकर हर्षित होते हैं वे नर धन्य हैं ऐसा जानना चाहिये तथा जिनशासन में जिनेन्द्र के गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, दशलक्षण धर्म, षोडश भावना,इत्यादि लक्षण विशेषरूप से जानने चाहिये। इनका व सम्यक्त्व का जो पालन करते हैं वे नर धन्य हैं।

धनवान भी वे ही हैं क्योंकि उन्होंने सम्यक् सम्पत्ति प्राप्त कर ली है। अतएव भव्य को जिनगुणों में अपना मन लगाना चाहिये ।

भावार्थ :-

इस संसार में वे ही जीव धन्य हैं -

१. जो जीव निर्दोष सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं।

२. जिन जीवों की भक्ति जिनशासन में हैं।

३. जो चतुर्विध संघ में दान देने के लिए लालायित रहते हैं।

४. जिनका धर्मानुराग निष्कपट होता है।

५. जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का अनुपालन करते हैं।

६. जो दशलक्षणधर्म को अवधारित करते हैं।

७. जो षोडषकारण भावना आदि का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं।

८. जो जिनेन्द्रदेव के व्दारा कथित मार्ग का अनुसरण करते हैं।

जिनके पास सुवर्ण,चान्दी आदि धातुओं का भण्डार हो, वे धनवान

नहीं हैं। जिनके पास हीरे- जवाहरातों के अम्बार हो, वे धनवान नहीं है। जिनके पास विपुल सुख-सुविधायें उपलब्ध हैं, वे धनवान नहीं हैं। जिनके पास त्रिलोकव्यापी यश का भण्डार हो, वे धनवान नहीं हैं। जिन्होंने अपने आत्मगुणों की सम्पत्ति प्राप्त कर ली हैं, वे ही मनुष्य धनवान हैं क्योंकि निज को प्राप्त किये बिना सारा वैभव व्यर्थ है।

कहा भी है कि

आत्मा से अनुराग हो , धन्य होत नर सोय।
सुत दारा और संपदा, पापी के भी होय ॥

ग्रन्थपठन का फल

जो पढइ सुद्धभावे सुणहि सद्दहइ देहि थिरकण्णं।
पावं तस्स पणासइ सिवलोए होइ आवासं ॥५०॥

अन्वयार्थ :-

(जो) जो **(शुद्धभावे)** शुद्ध भाव से **(पढइ)** पढते हैं **(सुणहि)** सुनते हैं **(सद्दहइ)** श्रद्धा करते हैं **(थिरकण्णं)** स्थिर चित्त से कान **(देहि)** देते हैं **(तस्स)** उनके **(पावं)** पापों का **(पणासइ)** नाश होता है और **(सिवलोए)** मोक्ष में **(आवासं)** आवास **(होइ)** होता है।

संस्कृत टीका :-

हे शिष्य ! इमां संबोधपञ्चासिकां शुद्धभावेन ये नरा पठन्ति, पाठयन्ति, श्रृण्वन्ति, श्रद्धानं कुर्वन्ति। केन ? स्थिरचित्तेन। एषां गुणान् ज्ञात्वा रुचिं कुर्वन्ति, तेषां नराणां समस्त पापकर्माणि क्षयं यान्ति। पश्चात्ते शिवलोके मोक्षे वासं प्राप्नुवन्ति।

टीकार्थ:-

हे शिष्य! इस सम्बोध पंचासिका को शुद्धभाव से जो नर पढते हैं, पढाते हैं, सुनते हैं, श्रद्धान करते हैं।

शंका- किसप्रकार ?

समाधान–स्थिर चित्त से। इन गुणों को जानकर रुचि करता है, उन मनुष्यों के समस्त पाप कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। बाद में वे शिवलोक में वास को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :–

ग्रन्थ का पठन कैसे करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि ग्रन्थ का पठन शुद्धभावों से सहित होकर करना चाहिये क्योंकि शुद्धभावों से ग्रन्थ को पढ़ने से प्राप्त होने वाला ज्ञान ही केवलज्ञान का बीज बनता है। कवि कहते हैं कि जो इस ग्रन्थ को पढ़ते–पढ़ाते हैं, श्रद्धा करते हैं, वे लोग अपने पापों का नाश कर मोक्ष जाते हैं।

ग्रन्थ का उपसंहार

सावणमासम्मि कया गाथाबंधेण विरइयं सुणहं ।
कहियं समुच्चयत्थं पयडिज्जं तं च सुहणोहं ॥५१॥

अन्वयार्थ :–

(सावणमासम्मि कया) श्रावण मास में **(गाथाबंधेण)** गाथाबन्ध से **(विरइयं)** रचित **(सुणहं)** सुन **(कहियं)** कहा है **(समुच्चयत्थं)** समुच्चयार्थ **(तं च)** उसको **(सुहणोहं)** स्वात्मज्ञान के लिए **(पयडिज्जं)** बनाया।

संस्कृत टीका :–

कवीश्वर गौतमस्वामी कथयति – मया इयं संबोधपञ्चासिका गाथाबन्धेन भव्यजीवानां प्रतिबोधनार्थं श्रावणसुदी २ दिने कृता। समुच्चयत्थं, कोऽर्थः ? बहवोऽर्था भवन्ति, परन्तु मया संक्षेपार्थे कथिता। च पुनः स्वात्मोत्पन्न सुखबोध प्राप्त्यर्थं मया कृतम्।

टीकार्थ :–

कवीश्वर गौतमस्वामी कहते हैं –मेरे द्वारा यह संबोध पंचासिका गाथा बंध से भव्यजीवों के प्रतिबोधनार्थ श्रावण शुक्ला द्वितीया को पूर्ण किया गया है।

समुच्चय का क्या अर्थ है ?

बहुत अर्थ हैं। किन्तु मैंने संक्षेप के अर्थ में कहा है और मैंने स्वात्मबोध की प्राप्ति के हेतु यह ग्रन्थ कहा है।

भावार्थ :-

ग्रन्थकार ग्रन्थ पूर्ण करते हुए लिखते हैं कि श्रावण शुक्ला व्दितीया को मैंने स्वात्मज्ञानार्थ यह ग्रन्थ लिखा है।

॥ इति संबोह पंचासिया ॥

संबोह पंचासिया

पण्डित द्यानतराय जी कृत हिन्दी काव्य

ॐ कार मंझारि, पंच परम पद बसत है।
तीन भुवन में सार, वंदू मन वच काय से ॥ १॥
अक्षर ज्ञान न मोहि, छंद भेद समजों नहीं।
बुधि थोरी किम होय, भाषा अक्षर बांचनी ॥ २॥
आतम कठिन उपाय, पायो नर भव क्यूं तजै।
राई उदधि समांहि, फिर ढूंढै नहीं पाइये ॥ ३॥
ईश्वर भाष्यो येह, नरभव मति खोवे वृथा।
फिर न मिले ये देह, पछताओ बहु होयगो ॥ ४॥
ई विधी नर भव कोय, पाय विषय सुख स्यों रमैं।
सो शठ अमृत खोय, हालाहल विष संचरे ॥ ५॥
उत्तम कुल अवतार, पायो दुःख करि जगत में।
रे जिय सोच विचार, कछु तोसा संग लीजिये ॥ ६॥
ऊरध गति को बीज, धरम न जो जीव आचरे।
मानुष योनि सहाय, कूप परै कर दीप ले ॥ ७॥
रिस तजि के सुन बैन, सार मनुष सब यौनि में।
ज्यों मुख ऊपर नैन, भानु दिपै आकाश में ॥ ८॥

(ढाल-छन्द)

रे जीव रे नरभव पाया, कुल जाति विमल तूं आया।
जो जैन धरम नहीं धारा, सब लाभ विषै संगहारा ॥ ९॥
लखि बात हिये गह लीजे, जिनकथित धरम नित कीजे।
भव दुःख सागर कूं तिरियो, सुख सों नौका ज्यूं वरियो ॥१०॥
अति लीन विषय झक मारयो, भ्रम मोहिज मोहित करियो।
विधीना जब देये घुमरिया, तब नरक भूमि तूं परिया ॥११॥
ये नर कर धरम अगाऊ, जबलों धन जौवन आयू।
जबलौं नहीं रोग सतावे, तोहि काल न आवन पावे ॥ १२॥
येह तेरे आसन नैना, जबलों तेरी दृष्टि फिरे ना।
जबलों तेरी बुधि सवाई, कर धरम अगाऊ रे भाई ॥ १३॥
औस जल ज्यों जौवन जै हैं, करि धरम जरा पुनि एहैं।
ज्यों बूढ़ा बलद थकै हैं, कछु कारज न कर सके हैं ॥ १४॥
ये क्षण संयोग वियोगा क्षिण जीवन क्षण मृत रोगा।
क्षण में धन यौवन जा हैं, केहि विधि जग में न रहे हैं ॥ १५॥
अंबर घन जीतब जेहा, गज करण चपल धन येहा।
तनु दर्पण छाया जानों, ये बात भले उर आनो ॥ १६॥
अहि जम लीजे नित आव, क्यों नहीं धरम सुनीजे।
नयन तिमिर नित्य हान, आसन यौवन छीजे ॥१७॥
कमला चल ये न पैंड, मुख ढांक परिवारा।
देह थकै बहु पोष, क्यों न लखै संसारा ॥१८॥
छिन नहीं छोडे काल, ज्यो पाताल सिधारा।
यों मन मांहि विचार, जग संसार असारा ॥१९॥
गणसुर राखे तोहि, राखै उदधि मथैया।
तो उन छोड़े काल, दीप पतंग जु परिया ॥२०॥
घर गढ़ सो मादान, मणि औषध सब यों ही।

मंत्र यंत्र करि तंत्र, काल मिटै नहीं क्यों ही ॥२१॥
नरक अधिक दुःख भूरि, जो तूं जीव संहारे।
तिन दुखन नहिं पार, यातें पाप निरवारे ॥२२॥
चेतन गर्भ मंझारि, नरक अधिक दुःख पायो।
बाल पणा को खेद, सब जन परगट गायो ॥२३॥
छिन में धन का सोच, छिन में बिरह सतावे।
छिन में इष्टवियोग, तरुणक बल सुख पावे ॥२४॥

(ढाल)

जरा पणैं दुःख जे सह्या मन भाई रे, सो क्यूं भूल्यो तोहि।
चैत मन भाई रे, जे कुविषयन स्यों लग्यो मन भाई रे,
आतम हित नहीं होय चैत मन भाई रे ॥२५॥
झूठ पाप करि उपज्यो (मन.) गर्भ वस्यो बसि पाय (चेत.)।
सात धात लह पाप तैं (मन.) अजहूं पाप रति आय (चेत.)॥२६॥
नहीं जरा गद आये हैं (मन.) कहां गयो जम यक्ष (चेत.)।
ज्यों ल चित्त तूं हरयो (मन.) एह सब परिग्रह त्याग (चेत.) ॥२७॥
टुक सुख को भवदधि परयो, पाप लहरि दुःख देय।
पकरे धरम जिहाज जो, सुख सों पार करेय ॥२८॥
ठीक रहे धन सासतो, होय न रोग न काल।
जब लग धरम न छांडि है, कोटि कटै अघ जाल ॥२९॥
डरपत जो परलोक तैं, चाहत शिवसुख सार।
क्रोध लोभ विषय तजो, धर्म कथित जिनधार ॥३०॥
ढील न कर आरंभ तजो, आरम्भ में जीवघात।
जीवघात तें अघ बढ़ैं, अघ तें नरक निपात ॥३१॥
नरक आदि तिहुं लोक में,ज्यों पर भव दुःख रासि।
सो सब पूरब पाप तैं, जीव सहै बहु भास ॥३२॥

(ढाल-वीर जिणंद की)

तिहुं जग में सुर आदि दे जी, शिवसुख दुर्लभ सार।
सुन्दरता मम भावना जी, सो दे धर्म अपार॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३३॥
थिरता जस सुख धर्म स्यों जी, पाव रतन भंडार।
धर्म बिना प्राणी लहै जी, दुःख नाना प्रकार॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३४॥
दान धरम तैं सुर लहै जी, नरक लहैं करि पाप।
इह विधी जाणर क्यूं पडै जी, नरक विषै तूं आप॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३५॥
धरम करत शोभा लहै जी, हय गय रथ सब साज।
प्रासुक दान प्रभाव स्यों जी, घर आवें मुनिराज॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३६॥
नवल सुभग मन मोहना जी, पूजनीक जग मांहि।
रूप मधुर वच धरम स्यों जी, दुख क्यों व्यापै तांहि॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३७॥
परमारथ यह पंच है जी, मुनि को समता सार।
विनय मूल विद्या तणै जी, धरम दया सिरदार॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३८॥
फिर सुणि करुणा धरम स्यों जी, गुरु कहिये निरग्रन्थ।
देव अठारह दोष बिनां जी, येह श्रद्धा शिव पंथ॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥३९॥
बिन धन घर शोभा नहीं जी, दान बिना धन जेह।
जैसे विषयी तापसी जी, धरम दया बिन तेह॥
रे भाई तूं अब धर्म संभारि॥४०॥

(दोहा)

औंदू धन हित अघ करै, अघ तैं धन नहीं होय।
धरम करत धन पाइये, मन वच जाणो सोय ॥४१॥
मति जिय सोच किंचिनु, होनहार सो होई।
जो अक्षर विधिना लखै, ताहि न मेटै कोई ॥४२॥
यह बकवात बहुत करो, पैठे सागर मांहि।
शिखर चढै बसि सौभ के, अधिको पावे नांहि ॥४३॥
रात दिवस चिंता चिता, मांहि जल मति जीव।
जो दियो सो पाइयो, अधिको लहे न कदीव ॥४४॥
लागि धरम जिन पूजिये, सांच कहों सब कोय।
चित्त प्रभू चरन लगाइये, तो मनवांछित होय ॥४५॥
वे गुरु होवो मम संयमी, दैव जैन हो सार।
साधरमी संगति मिलो, जबलों भव अवतार ॥४६॥
शिवमारग जिन भासियो, किंचित् जाणे कोय।
अंत समाहिमरण करे, तो चउगई दुःख क्षय होय ॥४७॥
घटि दोय सम्यक गुण गहै, जिनवाणी रुचि जास।
सौ धन्य सो धनवान है, जग में जीवन तास ॥४८॥
श्रद्धा हिरदै जो करै, पढे सुणे दे कान।
पाप करम सब नासिकैं, पावें पद निर्वाण ॥४९॥
हित सो अर्थ बनाइयो, सुगरु बिहारीदास।
सतरह सै अठावने बदि तेरस कातिक मास ॥५०॥
ज्ञान वान जैनी बसै, बसे आगरे मांही।
आतम ज्ञानी बहु मिले, मूरख कोऊ नांहि ॥५१॥
क्षय उपशम बल में कह्यो, द्यानत अक्षर येह।
देखि संबोधि पंचासिका, बुधजन शुद्ध करेह ॥५२॥

श्लोकानुक्रमणिका

क्रम	गाथार्ध	गाथा क्रम	पृष्ठ क्रम
	अ		
१.	अत्थस्स करणादो	४२	५७
२.	अप्पेसिहसि अयाणय	५	७
	इ		
३.	इय जाणिउ णियचित्ते	१०	१३
४.	इय जाणऊण हियए	४५	६१
	उ		
५.	उच्छिण्णा किं णु जरा	२८	३७
	क		
६.	कस्स वि कुरूवकायं	२५	३२
७.	कस्स वि धणेणरहिए	२४	३१
८.	किं धम्मे दयरहियं	४१	५५
	ग		
९.	गजकण्णचवललच्छी	१६	१९
१०.	गब्भंते इण दुक्खं	२३	२९
	ज		
११.	जइ अक्खरं ण जाणामि	२	३
१२.	जइ इच्छइ परलोयं	३१	४०
१३.	जइ कहव माणुसत्तं	३	४
१४.	जइ गाहियहि मयरहरं	४८	६०
१५.	जइ रक्खइ सुरसंघो	२०	२४

१६.	जइ लच्छी होइ थिरं	३०	३९
१७.	जइ लहइ वि मणुयत्तं	९	११
१८.	जइ संसमरसि अयाणय	२२	२८
१९.	जह पविसहि पायालं	१९	२३
२०.	जह वयणाणं वि अच्छी	८	१०
२१.	जाम ण ढूकइ मरणं	१२	१५
२२.	जाम ण पडिखलई गई	१३	१६
२३.	जिणणाह लोयपुज्जिय	४८	६५
२४.	जीवं खणेण मरणं	१५	१८
२५.	जो पढइ सुद्धभावे	५०	६८
२६.	जं जं दुक्खं जं जं	३३	४२
२७.	जं जं दुलहं जं जं	३४	४३
२८.	जं जं जिहियं जं जं	४४	५९
	ण		
२९.	णउ मंते णउ तंते	२१	२६
३०.	णमिऊण अरहचरणं	१	१
३१.	णिच्चं खिज्जइ आऊ	१७	२०
	त		
३२.	ते धण्णा ते धणिणो	४९	६६
	थ		
३३.	थेरत्तणेण दुक्खं सहियं	२६	३३
	द		
३४.	दीवम्हि करे गहिए	७	९
३५.	दुक्खेहि मणुयजम्मं	६	८
	ध		
३६.	धम्मेण णरो सुहगो	३८	५०

३७.	धम्मेण यसक्कित्ती	३६	४६
३८.	धम्मेण य हुंति जया	३७	४७
३९.	धम्मेण होई सग्गं	३८	४९
४०.	धम्मो दयाण मूलं	३९	५१
४१.	धम्मं करेहि पूयहि	४६	६२
	प		
४२.	पावेण य उप्पण्णो	२७	३५
	भ		
४३.	भीम भवोवहि पडिओ	२९	३८
	म		
४४.	मुइसु विविह आरंभं	३२	४१
४५.	मूढय जोव्वण धम्मु	१४	१७
	ल		
४६.	लच्छी ण हु देइ पयं	१८	२१
४७.	लहिऊण मणुयजम्मं	४	६
	व		
४८.	विसयभुयंगम डसिओ	११	१४
	स		
४९.	सावणमासम्मि कया	५१	६९
५०.	सो धम्मो जत्थ दया	४०	५३
५१.	संपज्जइ सामि जिणं	४७	६४

हमारे उपलब्ध प्रकाशन

क्र.	टीकाग्रन्थ	मूल्य
१.	रत्नमाला	२५ रु.
२.	प्रमाणप्रमेयकालिका	२१ रु.
३.	संबोह पंचासिया	२० रु.
४.	दव्वसंग्गह	३० रु.
५.	वेरग्गसार	१५ रु.
६.	कषायजय भावना	१० रु.
७.	सज्जनचित्तवल्लभ	११ रु.
८.	ज्ञानांकुश	३० रु.
९.	वैराग्यमणिमाला	१५ रु.
१०.	सामायिक पाठ	१५ रु.
११.	योगसार	३० रु.

क्र.	विधान साहित्य	मूल्य
१.	कल्याण मन्दिर विधान	१७ रु.
२.	भक्तामर विधान	२० रु.
३	रविव्रत विधान	१५ रु.
४.	शेटतीज व्रत विधान	११ रु.
५	जिनगुणसम्पत्ति व्रत विधान	२० रु.
६.	श्रुतस्कन्ध विधान	१५ रु.
७.	सुगन्धदशमी व्रत विधान	१० रु.
८.	निर्दुःख सप्तमी व्रत विधान	१० रु.
९	रत्नत्रय व्रत विधान	२० रु.

क्र.	प्रवचन साहित्य	मूल्य
१.	धर्म और संस्कृति	५ रु.
२.	कैद में फँसी है आतमा	६ रु.
३.	ए बे-लगाम के घोड़े ! सावधान	७५ रु.
४.	स्मरणशक्ति का विश्वास कैसे करें ?	२० रु.

क्र.	क्रीड़ा साहित्य	मूल्य
१.	आध्यात्मिक क्रीडालय	५० रु.
२.	ज्ञाननिधि क्रीडालय	५० रु.
३.	सन्मति क्रीड़ालय	३५ रु.
४.	ज्ञानार्जन क्रीड़ा मन्दिर	३५ रु.

क्र.	मुक्तक साहित्य	मूल्य
१.	सुविधि मुक्तक मणिमाला	५ रु.

क्र.	ओडिओ कैसेट	मूल्य
१.	स्तोत्रपाठपुंज -१ (९० मिनट)	५० रु
२.	स्तोत्रपाठपुंज -२ (९० मिनट)	५० रु.
३.	काव्यकुंज (६० मिनट)	५० रु.
४.	गीत गुंजन (७० मिनट)	५० रु.

प्राप्ति स्थान

भरतकुमार इन्दरचन्द पापडीवाल
सिडको, एन-९, ए -११५/४९/४ शिवनेरी
कॉलोनी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र ४३१००३)
(०२४०) ३८१०६१